

समरथ



जुलाई-अगस्त 2008 ♦ नई दिल्ली



بھارتی ادیبوں کی زندگی
شب
محمود
درویش

پاکستانی:
موسیٰ کوثر
ناصر زبیر
پنگہ احمدی
علی جمالی
سماں احمد سرفراز
بہ نگرانی:
سعید عبد اللہ
خوزہ وائس
© 2008
۲۶۵



नाहि तो जन्म नयाई

अगस्त 2008 साहित्य जगत के लिए बेहद दुखदाई रहा। इस दौरान दो महान कवि हमारे बीच न रहे। लाखों फिलिस्तीनियों की व्यथाओं को अपनी कविताओं के ज़रिये दुनियाभर में पहुंचाने वाले महान कवि महमूद दरवेश की कलम खामोश हो गई। महमूद दरवेश पूरे फिलिस्तीनी आंदोलन की एक ऐसी आवाज़ थे जो दशकों तक दुनिया के कोने-कोने में गूंजती रही। समरथ के फिलिस्तीन विशेषांक में हमने महमूद दरवेश की कुछ कविताएं आप तक पहुंचाईं। उस समय ये सोचा भी न गया था की उन्हीं महमूद दरवेश को बहुत जल्द मौत हमसे छीन लेगी और हमें उनकी श्रद्धांजलि लिखनी होगी। लेकिन महमूद दरवेश उन महान कवियों में से हैं जिनकी कविताएं अपने आप में उस महान व्यक्तित्व के लिए श्रद्धांजलि हैं।

इसके फौरन बाद महान पाकिस्तानी कवि अहमद फ़राज़ भी हमसे अलविदा कह गए। पाकिस्तान की आवाम की वो सबसे बड़ी आवाज़ थे। उनकी कविताएं केवल पाकिस्तान आवाम का दुख-दर्द ही नहीं बांटती बल्कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के आपसी रिश्तों और दोनों मुल्कों के दौरान दोस्ती की निशानी भी बनती रही। “चलो मैं हाथ बढ़ाता हूं दोस्ती के लिए” कहने वाला कवि भी खामोश हो गया। साहित्य जगत को हुई इस क्षति का अंदाज़ा लगाना नामुमकिन तो नहीं लेकिन मुश्किल काम है। आज के दौर में जब साहित्य सत्ता का पोषक भी बनने लगा है और कविताएं वाहवाही लूटने के लिए की जाने लगी हैं, महमूद दरवेश और फ़राज़ जैसे शायरों की कमी पूरी करना शायद मुमकिन न हो। आई.एस.डी. इन महान कवियों को श्रद्धांजलि पेश करती है और इनकी कुछ कविताएं इस अंक के ज़रिये आप तक पहुंचा रही है।

मुहम्मद

मुहम्मद

डरा, सहमा हुआ आगोश में अपने ही वालिद की
सुलगते आसमां को देखता है, सहम जाता है
मेरे बाबा मुझे थामो,
हवाएं तेज़ हैं और पंख मेरे अब भी नाजुक हैं
अंधेरा हर तरफ है कुछ नज़र आता नहीं बाबा
मुहम्मद घर को आना चाहता है
वह मेरी सायकिल और मेरे पहनावे मुझे न दो
मेरा स्कूल दे दो और किताबें मुझको फिर दे दो
मेरे बाबा हमें घर ले चलो, वापस चलो बाबा
दरख्तों के घने साए समंदर की जवां मौजें
मैं उनके साथ अपनी जिंदगी फिर से बिताऊंगा
नहीं दरकार मुझको और कुछ बस घर चलो बाबा

मुहम्मद

न हाथों में कोई पत्थर
न तारों का कोई नशतर
वह सीना तान कर तकता है

फ़ौजों की कतारों को

ये जो किस्मत बनी उसकी
कभी मर्जी न थी उसकी

मगर सुन लो कि आज़ादी का परचम झुक नहीं सकता
मैं इस परचम में मर सकता हूं लेकिन रुक नहीं सकता
मैं बाबिल का परिंदा हूं मेरी परवाज़ ऊंची है
मेरी हद आसमानों की बुलंदी से भी ऊंची है
मगर एक नाम जो मुझको मिला उस नाम के पीछे
सनद दे दी है लानत की मेरे दुश्मन ने खुद लिख के
कोई बतलाए कितने और बच्चे ऐसे जनमंगे
वतन का नाम और बचपन के लम्हे जिनके न होंगे
मगर वह ख़्वाब देखेगा कि उसके ख़्वाब में तो है
इबादतगाह उसकी और वतन के अनगिनत टुकड़े

मुहम्मद रू-ब-रू था मौत के जो आन पहुंची थी
अचानक ज़ेहन में तस्वीर उभरी जो उसने देखी थी
ये वह मंज़र था जो टीवी के परदे पर नज़र आया

कि भूखे शेर को एक दूध का प्याला नज़र आया
मगर उस दूध के प्याले में उसके मौत का सामान विष भी था
यूं मोड़ा दूध से मुंह शेर ने जैसे कि वह प्याला
फ़ना कर देगा वहशीपन और ताक़त उसकी पी लेगा

मुहम्मद

कि वह नन्हा फ़रिश्ता जिसका कातिल उसके सर पर था
कि वह नन्हा फ़रिश्ता कैमरे जब चमके उस तन पर

वह चेहरा जैसे सूरज, दिल कि जैसे सेब का टुकड़ा
यूं रौशन उंगलियां जैसे क़तारे शमाओं की रौशन
वह पैकर था दमकता क्योंकि वह नन्हा फ़रिश्ता था
वह कातिल सोच सकता था कि इस नन्हें से बच्चे को
अभी में छोड़ दूं और क़त्ल उस लम्हे करूं इसको
यह बच्चा सीख जाये अपने मुंह से फ़िलिस्तीं कहना
खुद अपनी राह चुनना और हमसे सरकशी करना

मुहम्मद

जैसे यीशु सो रहा हो और सपनों में उभरता हो
किसी पाकीज़ा सी तस्वीर में, पेड़ों के साये में
जवां सीनों में और मज़लूम इंसानों के ख़्वाबों में

मुहम्मद

जिसके सीने में लहू का दरिया बहता है
वह अपने आखिरी मकसद को लेकर फिर से उठा है

—महमूद दरवेश

अनुवाद : खुशींद अनवर

अब किसका जश्न मनाते हो

अब किसका जश्न मनाते हो उस देश का जो तकसीम हुआ
अब किसके गीत सुनाते हो उस तन-मन का जो दो-नीम हुआ

उस ख़्वाब का जो रेज़ा रेज़ा उन आंखों की तकदीर हुआ
उस नाम का जो टुकड़े-टुकड़े गलियों में बे-तौक़ीर हुआ

उस परचम का जिसकी हुरमत बाज़ारों में नीलाम हुई
उस मिट्टी का जिसकी हुरमत मंसूब अदू के नाम हुई

उस जंग को जो तुम हार चुके उस रस्म का जो जारी भी नहीं
उस ज़ख़्म का जो सीने पे न था उस जान का जो वारी भी नहीं

उस खून का जो बद-किस्मत था राहों में बहाया तन में रहा
उस फूल का जो बे-कीमत था आंगन में खिला या वन में रहा

उस मशरिक़ का जिसको तुमने नेज़े की अनी मरहम समझा
उस मगरिब का जिसको तुमने जितना भी लूटा कम समझा

उन मासूमों का जिनके लहू से तुम ने फ़रोज़ां रातों की
या उन मज़लूमों का जिस से खंज़र की जुबां में बातें की

उस मरियम का जिसकी इफ़त लुटती है भरे बाज़ारों में
उस ईसा का जो कातिल है और शामिल है गम ख़वारों में

उन नौहागरों का जिनने हमें खुद कत्ल किया खुद रोते हैं
ऐसे भी कहीं दम साज हुए ऐसे जल्लाद भी होते हैं

उन भूखे नंगे ढांचों का जो रक्स सरे-बाजार करें
या उन ज़ालिम कज़ाकों का जो भेष बदल कर वार करें

या उन झूठे इफ़रारों का जो आज तलक ईफ़ा न हुए
या उन बेबस लाचारों का जो और भी दुख का निशाना हुए

इस शाहिल का जो दस्त-बे-दस्त आई है तुम्हारे हिस्से में
क्यों नंगे वतन की बात करो क्या रखा है इस किस्से में

आंखों में छुपाये अशकों को होंठों में वफ़ा के बोल लिए
इस जिस्म में भी शामिल हूं नौहों से भरा कशकोल लिए

शोला था जल-बुझा हूं हवायें मुझे न दो

शोला था जल-बुझा हूं हवायें मुझे न दो
मैं कब का जा चुका हूं सदायें मुझे न दो

जो ज़हर पी चुका हूं तुम्हीं ने मुझे दिया
अब तुम तो ज़िंदगी की दुआयें मुझे न दो

ऐसा कहीं न हो के पलट कर न आ सकूं
हर बार दूर जा के सदायें मुझे न दो

कब मुझ को एतराफ़-ए-मोहब्बत न था 'फ़राज़'
कब मैंने ये कहा था सज़ायें मुझे न दो।

—अहमद फ़राज़

इरशाद अली और मोहम्मद मारूफ की सूरतेहाल को जानना क्यों जरूरी है?

■ सुभाष गाताडे

क्या दो खतरनाक आतंकवादियों को दो किलो आरडीएक्स और पिस्तौलों के साथ सरेराह शहर में किसी बस से बरामद दिखाया जाए, और बस के ड्राइवर और कंडक्टर दावा करें कि वे कुछ भी नहीं जानते हैं, ऐसे किसी प्रसंग की कल्पना आप कर सकते हैं? दिल्ली की स्पेशल ब्रांच के लिए मुखबिरी का काम करने वाले दो व्यक्तियों के साथ यही हुआ, जब उन्होंने पुलिस के लिए आगे काम करते रहने से इन्कार किया। दरअसल पुलिस इन दोनों को सीमापार लश्कर-ए-तोइबा के किसी शिविर में भेजना चाह रही थी।

दिल्ली की सुलतानपुरी के इरशाद अली और भजनपुरा के मोहम्मद मारूफ कमर - जो पुलिस के लिए मुखबिरी का काम करते थे - उन्होंने यह सपने में भी नहीं सोचा होगा कि एक दिन वही पुलिस उन्हें 'अल बदर' के खतरनाक आतंकवादियों के तौर पर जेल में ठूस देगी। ढाई साल से अधिक वक्त गुजर गया है जबकि अभी भी वह जेल में बन्द हैं। इसे गनीमत ही समझा जाएगा कि पिछले दिनों दिल्ली की उच्च अदालत ने इस मामले में संज्ञान लेते हुए मामले से जुड़े तथ्य रखने का आदेश दिया। (हिन्दुस्तान टाइम्स, 6 अगस्त 2008)

एक तरफ पुलिस का यह दावा था कि 9 फरवरी 2006 को इन 'आतंकवादियों' को पकड़ा गया है, दूसरी तरफ यह हकीकत थी कि इस बरामदगी के काफी पहले से दोनों पुलिस की कस्टडी में थे, मोहम्मद कमर का 22 दिसम्बर, 2005 को उसके घर से ही अपहरण किया गया था तो इरशाद 12 दिसम्बर, 2005 से सुलतानपुरी से लापता

था। इन दो व्यक्तियों के आत्मीयजनों ने जब अदालत के सामने गुहार लगायी तब मामले की परतें खुलने लगीं, स्पेशल सेल के अधिकारियों के साथ उनकी बातचीत के ब्यौरे पेश हुए, अधिकारियों के अपने बयानात में विरोधाभास नोट किए गए और अदालत को सीबीआई जांच का आदेश देना पड़ा।

मालूम हो कि पिछले साल से ही इस मामले की सुनवाई चल रही है। उस दौरान इरशाद अली द्वारा प्रधानमंत्री के नाम भेजा एक खत भी मीडिया के एक हिस्से में प्रकाशित हुआ था (कश्मीर टाइम्स 21 सितम्बर 2007) जिसमें उसने पुलिस की कार्यप्रणाली का पर्दाफाश करते हुए बताया था कि किस तरह इण्टेलिजेन्स ब्यूरो के लोग निरपराध अल्पसंख्यक युवाओं को अपने जाल में फंसाते हैं और बाद में किसी खतरनाक आतंकवादी संगठन का सदस्य बता कर पकड़वा देते हैं।

इरशाद अली और मोहम्मद मारूफ की यह दुःखद दास्तान, और इसके अलावा हमारे मुल्क में आतंकवाद विरोधी संघर्ष के नाम पर जो कुछ चल रहा है, उसकी असलियत को बेपर्दा कर देती है और बता देती है कि 'दुनिया के इस सबसे बड़े लोकतंत्र में' किस तरह आतंकवाद को रोकने के नाम पर समुदाय विशेष को निशाना बनाने की संगठित अनकही मुहिम चल रही है और किस तरह इसके चलते तमाम निरपराधों को सलाखों के पीछे भेजा गया होगा?

पिछले दिनों भारत के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एम. के. नारायणन ने यह दावा किया था कि भारतीय गुप्तचर एजेंसियों ने 'बाहरी समर्थन' के आधार पर चल रहे आठ सौ

आतंकी इकाइयों/सेल का पर्दाफाश किया था। प्रश्न उठता है कि उसमें कितनी ऐसी इकाइयां/सेल होंगे जो ऐसे ही फर्जी आधारों पर गठित होंगी!

वैसे पता नहीं कितने लोगों ने गौर किया होगा कि हाल के समयों में आतंकवाद को लेकर जारी बहस समुदाय विशेष से आगे भी बढ़ती दिख रही है। अहमदाबाद बम धमाकों के बारे में 'इण्डियन मुजाहिदीन' के नाम से जो मेल भेजा गया था, उसके नवी मुम्बई स्थित किसी सन्देशास्पद अमेरिकी के कम्प्यूटर से भेजे जाने की बात प्रमाणित होने के बाद यह बात दबे जुबान से उठ रही है कि क्या हिन्दुस्तान में होने वाले इन बम धमाकों के पीछे इस्राइल की गुप्तचर एजेंसी मोसाद का हाथ तो नहीं है, जो अमेरिका का सहयोग कर रही है और जिन्हें यह मंजूर नहीं है कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की अमन पसन्द जनता अपनी दोस्ती मज़बूत बनाए।

पिछले दिनों कांग्रेस महासचिव एवं मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह ने लखनऊ में पत्रकार सम्मेलन में बम धमाकों की बहस को बिल्कुल अलग आयाम दिया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि 'सोचने की बात यह है कि देश में बम विस्फोट की घटनाएं तभी क्यों होती हैं जब भाजपा संकट में होती है?' उनके मुताबिक 'जब भाजपा तहलका कांड में घिरी तो संसद पर आतंकवादी हमला हुआ, कर्नाटक चुनावों की बेला में जयपुर में बम धमाके हुए और अभी हाल ही में जब मनमोहन सिंह सरकार के विश्वास मत प्रस्ताव को गिराने में विफल रही तो बेंगलूर और अहमदाबाद में धमाके हुए।' सूरत में बमों के पेड़ों पर टंगे हुए पाए जाने पर आश्चर्य जताते हुए उन्होंने यह भी कहा कि 'कई बार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिन्दू परिषद के लोग भी बम बनाने की घटनाओं में पाए गए हैं।' (भास्कर, 11 अगस्त 2008)

लोगों को याद होगा कि इसके पहले भाजपा की वरिष्ठ नेत्री सुषमा स्वराज्य ने यह कह कर सनसनी फैला

दी थी कि बेंगलूर और अहमदाबाद के बम धमाकों के पीछे संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन का विशेषकर कांग्रेस का हाथ है। यह जुदा बात है कि इस किस्म के गैरज़िम्मेदाराना बयान के बाद उनकी पार्टी वालों ने भी उनसे किनारा किया था।

भारत की इन दो प्रमुख पार्टियों में बम धमाकों के बाद आपसी दोषारोपण का जो सिलसिला चल रहा है, इस सम्बन्ध में प्रख्यात इतिहासकार अमरेश मिश्रा की यह टिप्पणी कुछ मायने रखती है (द मिल्ली गैजेट, 16-31 अगस्त 2008) 'भारत के इतिहास में हाल के समयों में यह पहली दफा हुआ है कि आतंकवाद के बहाने फोकस मुसलमानों से हटा है। एक दूसरे पर आरोप लगाते हुए कांग्रेस एवं भाजपा दोनों एक तरह से षड्यंत्र के सिद्धान्तों की बात कर रही हैं; दोनों पार्टियां यह दावा कर रही हैं कि हमले इसी वजह से हुए क्योंकि वह किसी राजनैतिक मकसद से लोगों का ध्यान बांटना चाहते थे।'

प्रश्न उठता है कि क्या इस मुल्क की वास्तविक सेक्युलर ताकतें, एवं आतंकवाद के नाम पर प्रताड़ित अल्पसंख्यक समुदाय का प्रबुद्ध नेतृत्व मौके की नज़ाकत को भांपते हुए अतीत में आतंकवाद के नाम पर समुदाय विशेष पर हुए अत्याचारों के मामले में न्याय की गुहार लगाएगा और इन तमाम काण्डों की उच्चस्तरीय जांच की मांग करेगा। इसमें कोई दो-राय नहीं कि हिन्दुस्तान में सामने आ रहे बम धमाकों के पीछे एक गहरा षड्यंत्र है जिसमें कहीं न कहीं भारत की हुकूमती पार्टियों के आपसी हित भी जुड़े हैं जो संसद के पटल पर नूराकुशती लड़ते रहते हैं।

अपने लेख के अन्त में अमरेश मिश्रा साफ कहते हैं कि '...अगर सेक्युलर तत्वों ने इस लम्हे की अहमियत को नहीं समझा जब मुस्लिम प्रताड़ना को लेकर दोनों प्रमुख पार्टियों में व्याप्त समझदारी में कहीं न कहीं आपसी बारीक सहमति नज़र आती है तो हो सकता है कि ऐसा कोई अवसर तत्काल सामने न आए!

आतंक, राशिद और इन्फोसिस

जयपुर में विस्फोट के कुछ दिनों बाद ही पुलिस ने कुछ लोगों को पकड़ा और दावा किया कि साजिश का पर्दाफाश हो गया है। हर पकड़ा गया शख्स मास्टरमाइंड था। इन्हीं में से थे- राशिद हुसैन। बिहार के रहने वाले। पेशे से इंजीनियर। इन्फोसिस में नौकरी। इनकी खता क्या थी। यह कभी सिमी से जुड़े थे, जब उस पर पाबंदी नहीं थी। लेकिन, जो चीज उन्हें शक के दायरे में लाई- वह था सेवा करने का जज्बा। विस्फोट के बाद, राशिद उन चंद लोगों में शामिल थे, जो घायलों की मदद के लिए पहुँचे थे। पुलिस का दिमाग देखिए, उसे लगा 'राशिद' नामधारी व्यक्ति सेवा करने कैसे पहुँचा। ज़रूर दाल में काला है। और राशिद हो गए 'आतंकी'। किसी तरह छूटे। इससे आगे की कहानी, **अपूर्वानन्द** बता रहे हैं।

राशिद हुसैन के स्वर में कड़वाहट नहीं थी, होना स्वाभाविक होता आखिर राजस्थान पुलिस ने उसे नौ दिन तक गैरकानूनी तरीके से बंद कर रखा था और लगातार यह कोशिश की थी कि उसे यह मानने पर मजबूर कर दिया जाए कि उसके ताल्लुकात 'सिमी' नामक संगठन के साथ हैं, उस मानसिक यंत्रणा को झेल कर भी राशिद टूटा नहीं। पुलिस से बच जाने के बाद जब राशिद ने अपनी कंपनी 'इन्फोसिस' में वापस काम पर जाना चाहा जहाँ वह इंजीनियर था तो उसे कुछ दिन आराम करने को कहा गया। आराम की यह अवधि एक बार और बढ़ाई गई फिर जब वह अपने परिवार से मिलने पटना गया तो इन्फोसिस ने उसे एक अंदरूनी पैनल से बात करने को वापस जयपुर बुलाया वहाँ उससे कहा गया कि कम्पनी के बाहर की उसकी गतिविधियों में कम्पनी की दिलचस्पी नहीं है और वह सिर्फ दो मामलों में उसकी सफाई चाहती है। उसने नौकरी माँगते समय यह बताया था कि वह पटना के एक कॉलेज में दो साल पढ़ा चुका है जब कि कम्पनी ने यह पता किया है कि दरअसल यह अवधि तीन साल की थी। दूसरे, उसने जिस एक और कम्पनी में काम का अनुभव बताया था, उसका वहाँ कोई वजूद ही नहीं है।

राशिद ने बताया कि उसने कॉलेज में तीन साल पढ़ाया था पर इन्फोसिस को सिर्फ दो साल का अनुभव बताया जो कि कम है, ज़्यादा नहीं। अगर वह बढ़ा कर

बताता तो जुर्म हो सकता था पर एक साल के अनुभव का उल्लेख न करना तो कोई दुर्भावना नहीं। वह अपने काम का स्वरूप बदलना चाहता था इसलिए उसने अध्यापन के अनुभव से एक साल कम करके जिस दूसरी फर्म में वह साथ-साथ काम कर रहा था, उसके एक साल के तजुर्बे का उल्लेख अधिक प्रासंगिक समझ कर ऐसी जानकारी दी। दूसरे जिस फर्म में वह काम कर रहा था, मुमकिन है कि इस बीच उसका किसी और बड़ी फर्म के साथ विलय हो गया हो।

लेकिन क्या यह सच नहीं कि इन्फोसिस ने राशिद को नौकरी देने से पहले उसके द्वारा दी गई हर जानकारी की जाँच-पड़ताल करा ली थी? क्या उस वक्त उस फर्म से इन्फोसिस ने पता नहीं किया था कि राशिद नाम का कोई व्यक्ति वहाँ काम करता है या नहीं, क्या इन्फोसिस अपने रिकॉर्ड से खुद इसकी सच्चाई का पता नहीं कर ले सकती? अगर अभी वह कंपनी नहीं है तो इसमें राशिद क्या कर सकता है।

इन्फोसिस, जो कि नए भारत का एक लघु रूप खुद को बताती है और जिसके साथ काम करने में किसी भी भारतीय नौजवान को फख्र का अनुभव होता है, जिसके मुखिया को भारत का राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तक बनाने की चर्चा संचार माध्यमों में चलती रहती है, राशिद के इस उत्तर से प्रभावित नहीं, राशिद ने जो किया वह उसकी नैतिक संहिता के प्रतिकूल था, असत्य

को वह सह नहीं सकती इसलिए उसने राशिद को बर्खास्त कर दिया। स्वयं को एक विशाल परिवार के रूप में प्रचारित करने वाली इस कम्पनी ने नितान्त निर्वैयक्तिक ढंग से राशिद के एमबीए के इम्तिहान के बीच बर्खास्तगी का यह आदेश भेज दिया।

जयपुर में बम धमाकों के बाद राशिद ने घायल लोगों के बीच जाकर राहत का काम करने का निर्णय किया। वह पहले से एक छोटी स्वयं सेवी संस्था में काम करता है। इन्फोसिस के अपने काम के बीच वक्त निकाल कर उसने बम-धमाकों से प्रभावित लोगों का दुःख-दर्द बाँटने का निर्णय किया। हम में से ज्यादातर ऐसा नहीं कर पाते। सेवा भारतीय संस्कृति में उतनी रची-बसी नहीं है। एक जून को सुबह पाँच बजे स्पेशल ऑपरेशन ग्रुप ने उसे घर से उठा लिया।

पुलिस को यह पता था कि उसके सिमी से रिश्ते रहे हैं। राशिद ने बिना धराए बताया कि पैंतीस साल की उसकी अब तक की ज़िंदगी में बंगलोर के डेढ़ साल सिमी से रिश्तों के थे। वह उस संगठन का पक्का सदस्य भी नहीं बन सका था। उसने कहा कि सिमी की कई बातों से वह सहमत नहीं था। पटना में उसने कई संसदीय दलों के साथ काम किया था, इसलिए वह इस तर्क का कायल न था कि भारत में मुसलमानों का हित इस व्यवस्था में सम्भव नहीं। वह भारतीय संविधान पर भी भरोसा रखता है। फिर 2001 के पहले सिमी से सम्बन्ध रखना कोई अपराध नहीं था क्योंकि वह प्रतिबंधित संगठन न था। पाबंदी के बाद उसने सिमी से रिश्ता नहीं रखा।

पुलिस की पूछताछ के वक्त को याद करते हुए आप राशिद के स्वर में कटुता नहीं, एक उदासी का भाव लक्ष्य कर सकते हैं। उसने अपनी पूछताछ में पाया कि पुलिस महकमे में मुसलमानों के प्रति दुर्भावनापूर्ण पूर्वाग्रह है। यह माना जाता है कि मुसलमान नौजवान का पढ़ा-लिखा होना और आधुनिक तकनीक में दक्ष होना उसके खतरनाक होने का सबूत है। आधुनिक तकनीक के सहारे वह बम बनाने से लेकर न जाने क्या-क्या कर सकता है। अगर वह सर झुका कर अपने काम की जगह से घर नहीं जाता और सामाजिक या राजनीतिक रूप से सक्रिय नौजवान है तो उसके खतरनाक होने की संभावनाएँ और बढ़ जाती हैं। इसका पता इस बात से चलता है कि

कहीं भी बम धमाके जैसी घटना होने के बाद सबसे पहले मुसलमान इंजीनियर और डॉक्टर पकड़े जाते हैं। राशिद की घटना के बाद अभी फिर जयपुर में कुछ डॉक्टर पकड़ लिए गए थे।

पुलिस और राज्य के मुसलमानों के प्रति इस पारंपरिक व्यवहार के साथ इन्फोसिस जैसी नए ढंग की कार्य संस्कृति का दावा करने वाली कंपनियों का बर्ताव मिल जाए तो फिर मुसलमान नौजवानों के लिए दरवाजे बंद हो जाते हैं। इन्फोसिस क्या ईमानदारी से यह कह सकती है कि राशिद को निकालने का फैसला राशिद के पकड़े जाने से नहीं जुड़ा है और वह किसी तरह उससे पल्ला नहीं छुड़ाना चाहती थी? क्या उसके मानव संस्थान प्रमुख श्री पाई ने यह नहीं कहा कि जयपुर धमाके के बाद उन्होंने राशिद की पृष्ठभूमि की जाँच शुरू की?

क्या अब निजी क्षेत्र की कम्पनियाँ भारत की सुरक्षा एजेंसियों को अपने यहाँ काम करने वाले मुस्लिम नौजवानों की जानकारी उपलब्ध कराने का काम भी कर रही है? क्या मुसलमानों के आर्थिक अलगाव का यह एक नया दौर शुरू हो रहा है? क्या तकनीकी क्षेत्र का हिन्दूकरण आरम्भ हो गया है, जैसे पहले से ही पुलिस और अन्य सुरक्षा एजेंसियों का रहा है? क्या उन्हें यह संदेश देने की कोशिश की जा रही है कि उन्हें आज्ञाकारी शहरियों की तरह काम से काम रखना चाहिए? क्या राजनीतिक और सामाजिक रूप से सक्रिय मुसलमानों में यह राज्य सिर्फ अतीक, शहाबुद्दीन, मुख्तार जैसे चेहरों को ही स्वीकार करेगा या मुख्तार अब्बास नकवी और शाहनवाज़ हुसैन जैसे मुसलमानों को? क्या राशिद जैसे नौजवानों को अपनी राजनीतिक खोज बिन करने का हक नहीं रहेगा?

राशिद के स्वर में कड़वाहट नहीं थी, इसके लिए मैं पूरे हिन्दुस्तान की ओर से उसके प्रति शुक्रगुज़ार हुआ। उसने अपनी बर्खास्तगी के खिलाफ इन्फोसिस जैसी कम्पनी से कानूनी लड़ाई लड़ने का फैसला किया, इसके लिए भी। उसने चुप रह कर, पिछले दरवाजे से पैरवी करके, हाथ-पैर जोड़ कर नौकरी वापस लेने की कोशिश नहीं की, यह इसका सबूत है कि बावजूद प्रतिकूल माहौल के मुसलमान इस मुल्क पर अपना हक समझते हैं और अपना दावा बिना झिझक पेश कर सकते हैं। क्या हम सब इस दावेदारी को और मजबूत करने को तैयार हैं?

ब्रेन मैपिंग और नार्को टेस्ट : छद्म वैज्ञानिकता का आडम्बर या सार्थक कवायद

■ सुभाष गाताडे

देश के अग्रणी मानसिक स्वास्थ्य संस्थान नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेण्टल हेल्थ एण्ड न्यूरो साइंसेस (NIMHANS) के निदेशक की अगुआई में बनी विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों की छह सदस्यीय कमेटी ने ब्रेन मैपिंग के सन्दर्भ में अपने जिन निष्कर्षों का इजहार किया है, वह काफी अहमियत रखते हैं। यह जुदा बात है कि मुख्यधारा की मीडिया में इन निष्कर्षों को लेकर जबरदस्त मौन व्याप्त है। दरअसल प्रस्तुत अध्ययन के बाद कमेटी ने साफ बता दिया है कि न केवल ये परीक्षण अवैज्ञानिक हैं बल्कि उन्हें जांच के उपकरण के तौर पर इस्तेमाल करने तथा अदालत में सबूतों के तौर पर पेश करने पर तत्काल रोक भी लगनी चाहिए। मालूम हो कि उपरोक्त कमेटी में देश के अन्य अग्रणी संस्थानों के- बिहेवरियल एण्ड कोगनिटिव साइंस, साइकोफार्माकोलोजी, साइकिआट्री, फोरेन्सिक साइंस जैसे अहम विषयों के जानकार शामिल थे, जिन्होंने ब्रेन मैपिंग के बारे में अपने अध्ययन को अंजाम दिया।

सभी जानते हैं कि आपराधिक घटनाओं में या आतंकी कार्रवाइयों में संलिप्तता की पड़ताल करने के लिए इन दिनों नार्को परीक्षण के साथ-साथ ब्रेन मैपिंग परीक्षण का बोलबाला भी बढ़ा है। पुलिस महकमे से लेकर आम जनमानस में भी जो सहजबोध व्याप्त है, उसके अन्तर्गत वैज्ञानिकता के आवरण में लिपटे ऐसे परीक्षणों - फिर चाहे ब्रेन मैपिंग टेस्ट हो या नार्को टेस्ट हो, - को काफी वैधता भी प्राप्त है। ऐसे में इन परीक्षणों के हिमायतियों को भी जबरदस्त झटका लग सकता है।

मालूम हो कि ब्रेन मैपिंग में अभियुक्त को कम्प्यूटर

से जुड़ा एक हेलमेट पहनाया जाता है जिसमें कई सेन्सर और इलेक्ट्रॉनिक उपकरण लगे होते हैं। फिर जांच अधिकारी एवं फोरेन्सिक विशेषज्ञ की मौजूदगी में उसे अपराध से जुड़ी तस्वीरें दिखायी जाती है। इसे देख कर अभियुक्त के दिमाग में उठी हलचलों की इलेक्ट्रिकल फिजियोलॉजिकल गतिविधियों का विश्लेषण किया जाता है।

कमेटी के मुताबिक अपराध विज्ञान में उपकरण के तौर पर काम करने के लिए एक ऐसी प्रक्रिया की जरूरत होती है जिसमें गलत होने की सम्भावना समाहित हो। बंगलौर और गांधीनगर जैसे स्थानों पर जहां यह परीक्षण किया जाता है, वहां इस कारक को मद्देनज़र नहीं रखा गया है।

वैसे सिर्फ ब्रेन मैपिंग ही नहीं, नार्को टेस्ट की वैज्ञानिकता पर भी बहुत पहले सवाल खड़े किए जा चुके हैं। यह जानना भी दिलचस्प है कि अपने यहां भले ही नार्को परीक्षण लोगों को नया नज़र आता हो, विकसित देशों में तो वह वर्ष 1922 में नार्को परीक्षण मुख्यधारा का हिस्सा बना था जब राबर्ट हाउस नामक टेक्सास के डॉक्टर ने स्कोपोलामिन नामक ड्रग का दो कैदियों पर प्रयोग किया था।

दरअसल नार्को एनैलिसिस टेस्ट एक फोरेन्सिक टेस्ट है जिसे टेस्ट जांच अधिकारी, मनोवैज्ञानिक, डॉक्टर और फोरेन्सिक एक्स्पर्ट की मौजूदगी में अंजाम दिया जाता है। इसमें संदिग्ध व्यक्ति को सोडियम पेंटोथेल नामक कैमिकल का इंजेक्शन दिया जाता है, जिससे न केवल वह अर्द्ध-बेहोशी की हालत में चला जाता है बल्कि उसकी तर्कबुद्धि/रीजनिंग भी खत्म हो जाती है और फिर उससे सवाल पूछ कर जानकारी उगलवायी जाती है। वह व्यक्ति जो एक तरह से

सम्मोहनावस्था में चला जाता है वह अपनी तरफ से ज्यादा कुछ बोलने की स्थिति में नहीं होता बल्कि पूछे गए कुछ सवालों के बारे में कुछ बता सकता है। जो लोग यह मानते हैं कि नार्को परीक्षणों में व्यक्ति हमेशा सच ही उगलता है। दरअसल उस अवस्था में भी वह झूठ बोल सकता है, विशेषज्ञों को भरमा सकता है।

जहां विकसित दुनिया के बाकी हिस्सों ने ऐसे परीक्षणों से भले ही तौबा की हो, - ज्यादातर जनतांत्रिक दुनिया जिसमें अमेरिका और ब्रिटेन भी शामिल हैं, वहां ऐसे परीक्षण बदनाम हुए हों - पिछले कुछ समय से अपने यहां ऐसे परीक्षणों की 'लोकप्रियता' बढ़ती ही जा रही है। किसी अपराध के संदिग्ध पकड़े जाने के बाद लोग ही मांग करने लगते हैं कि इनका अगर नार्को टेस्ट हो जाए तो सच्चाई उगल देंगे। एक ऐसी हालत बन रही है कि इसकी छद्म वैज्ञानिकता से अभिभूत प्रबुद्ध समुदाय के लोग भी यह नहीं सोचने को तैयार होते कि ऐसे परीक्षणों के माध्यम से हम अभियुक्त के मानवाधिकारों के हनन को, उसे यातना देने के काम को नयी वैधता प्रदान कर रहे हैं।

संविधान का एक अहम तत्व है धारा 20 (3) जो कहता है कि किसी व्यक्ति को "जिस पर कोई आरोप लगे हैं उसे अपने खिलाफ गवाह के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया जाएगा "No person accused of any offence shall be compelled to be a witness against himself" अगर हम नार्को टेस्ट की बुनियादी अन्तर्वस्तु को समझने की कोशिश करेंगे तो यही कह सकते हैं कि इसके ज़रिये व्यक्ति को एक तरह से अपने खिलाफ गवाह के तौर पर इस्तेमाल किए जाने की सम्भावना रहती है। इसमें कोई दो-राय नहीं कि नार्को टेस्ट में कोई व्यक्ति कुछ भी प्रलाप करे या पुलिस उससे जबरन कबूलवाये, अपराध को साबित करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती ही है।

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि अभियुक्त की मर्जी के खिलाफ दवा पिला कर उससे जानकारी लेने की इस कोशिश को मद्रास हाईकोर्ट तथा बम्बई हाई कोर्ट ने यातना के श्रेणी में रखने से मना किया और ऐसा तर्क दिया कि 'अभियुक्त को भले ही उसकी इच्छा के विरुद्ध

प्रयोगशाला में ले जाया जाए, लेकिन परीक्षणों के दौरान वह जो बात प्रगट करे वे स्वैच्छिक हो सकती हैं।' सुप्रीम कोर्ट में वकील के तौर पर कार्यरत श्री राकेश शुक्ला, जो मानवाधिकार आन्दोलन से भी जुड़े हैं, अपने आलेख 'द टूथ मशीन' (इण्डियन एक्सप्रेस, 16 जुलाई 2008) में कहते हैं कि 'यह उसी तरह से हुआ कि किसी व्यक्ति को इतना पीटा जाए कि वह टूट जाए और बाद में जब वह कुछ बात उगलने लगे तो इस प्रगटीकरण को 'स्वैच्छिक स्वीकृति' कहा जाए।

दरअसल यातना की श्रेणी में शुमार किए जा सकने वाले नार्को टेस्ट जैसे परीक्षणों की बढ़ती वैधता हमारे अपने वक्त की एक अलग परिघटना को भी उजागर करती है जिसमें असाधारण कानूनों को - जिसमें विशेष परिस्थितियों का हवाला देते हुए नागरिकों के संविधानप्रदत्त अधिकारों पर अंकुश लगाया जाता हो - इनकी 'कार्यक्षमता' को देखते हुए साधारण कानूनों में भी इनके प्रावधानों को शामिल करने की बात चलती रहती है। वर्ष 2000 में तत्कालीन एनडीए सरकार की सदरत में 'आपराधिक न्याय प्रणाली' को सुधारने के लिए जो मालीमाथ कमेटी बनी थी उसके ज़रिये हम यही कोशिश देख सकते हैं।

नार्को टेस्ट को लेकर अमेरिकी गुप्तचर एजेंसी सी आई ए का अपना अनुभव रेखांकित करने लायक है। शीतयुद्ध के दिनों में जबकि उसे हर जगह कम्युनिस्ट क्रान्ति का खतरा दिखता रहता था, उसने नार्को टेस्ट को आजमा कर लोगों से सच उगलवाने की काफी कोशिश की, और यही निष्कर्ष निकाला कि ऐसे परीक्षण कतई फलदायी नहीं होते। न सूचनाएं मिलती हैं, न सच उगला जाता है अधिक से अधिक यही होता है कि बन्दी विभ्रम का शिकार हो और मनोरोगी की तरह व्यवहार करने लगे, जो किसी भी तरह मामले की जांच में सहयोगी नहीं बन सकता। यह अकारण नहीं कि अमेरिकी सीनेट के सामने हुई सुनवाई में उसने उसी वक्त (1977) यह बता दिया था कि 'सच उगलने वाली कोई जादूई दवाई की बात अधिक से अधिक जनमानस के कल्पनाजगत का हिस्सा' हो सकती है, लेकिन उसका कोई भौतिक आधार नहीं है।'

पूर्वाचल में हिन्दूराष्ट्र

■ सुभाष गाताडे

क्या पूर्वी उत्तर प्रदेश 'गुजरात' पैटर्न पर हिन्दुत्व की नयी प्रयोगशाला बनने की ओर बढ़ रहा है या जनतांत्रिक एवं कम्युनिस्ट आन्दोलन की लम्बी परम्परा आज भी इस विघटनकारी प्रयोग को शिकस्त देने की स्थिति में है? आप कह सकते हैं कि यही प्रश्न आज सबसे मौजूं हो उठा है।

वैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ में साम्प्रदायिक तनाव के ताज़ा दौर में उग्र हिन्दुत्व की ताकतों की भूमिका से पर्दा धीरे-धीरे हट रहा है। एक सियासी पार्टी (भाजपा माले-लिबरेशन) की तीन सदस्यीय जांच कमेटी ने दौरा करके बताया है कि किस तरह भाजपा के विवादास्पद सांसद योगी आदित्यनाथ की हाल की यात्रा के पहले से ही उससे सम्बद्ध हिन्दू युवा वाहिनी के कार्यकर्ताओं ने समूचे शहर में उग्र नारे लगाते हुए जुलूस निकाले थे और अल्पसंख्यकों को 'पाकिस्तान' भेजने की घोषणाएं की थीं।

यह सभी के सामने स्पष्ट है कि दाऊद इब्राहिम, अबू सलेम जैसे माफिया सरगनाओं की इसी जिले की जड़ों को आधार बना कर तथा कुछ आतंकी घटनाओं में पुलिस द्वारा यहां के अल्पसंख्यक युवकों को बिना किसी सबूत के पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर उग्र हिन्दुत्व की ताकतों ने एक ऐसी हवा बनानी शुरू की है कि गोया समूचा अल्पसंख्यक समुदाय दोषी हो। मालूम हो कि योगी की हाल की आजमगढ़ यात्रा इसी मसले पर आयोजित एक सम्मेलन के सिलसिले में थी, जिसके अन्तर्गत 'आतंकवाद के खिलाफ एक सम्मेलन का आयोजन किया गया था। पिछले कुछ दिनों से योगी आदित्यनाथ के लोगों ने जगह-जगह जाकर ऐसे ही 'आतंकवाद विरोधी सम्मेलन' के आयोजन का सिलसिला चलाया है।

फिलवक्त यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि आखिर प्रशासन में बैठे किस शख्त की यह लापरवाही थी या अन्दरूनी मिली-भगत थी कि आक्रामक हिन्दुत्व के प्रतीक इस सांसद के सौ के करीब कारों के काफिले को - जिनमें

से कई हथियारबन्द थे - सम्बेदनशील कहे जाने वाले अल्पसंख्यक बहुल तकिया इलाके से जाने की इजाजत दी गयी और इतना ही नहीं इनके उग्र नारों पर भी अंकुश लगाने की कोई कोशिश नहीं की गयी।

ऐसी भड़काने वाली कार्रवाई के बाद भी यह कहना पड़ेगा कि अगर काफिला चुपचाप गुजर जाता तो योगी की इस मुहिम की हवा निकल जाती। हो सकता है कि आक्रामक हिन्दुत्व के जवाब में अल्पसंख्यक समुदाय में भी अतिवादी किस्म के तत्वों का बोलबाला बढ़ रहा हो, जिन्होंने इस मामले में पहल ली हो।

वैसे आजमगढ़ इस बार साम्प्रदायिक दरार के नए सिलसिले का आगाज़ करेगा, इसके संकेत अप्रैल 2008 में सम्पन्न लोकसभा के उपचुनाव के दौरान मिले थे, जिसमें भाजपा ने अपने प्रत्याशी के तौर पर समाजवादी पार्टी द्वारा टिकट से वंचित किए गए बाहुबली रमाकान्त यादव को - जिनके खिलाफ तमाम मुकदमे दर्ज हैं - खड़ा किया था। बसपा-भाजपा-सपा जैसे त्रिकोणात्मक हुए उपरोक्त चुनाव में अन्ततः बसपा प्रत्याशी अकबर अहमद 'डम्पी' की जीत हुई, लेकिन उसे कड़ी टक्कर देने में रमाकान्त कामयाब रहे। इस उपचुनाव में रमाकान्त यादव को हिन्दू हितों के रक्षक के तौर पर और इस चुनावी संग्राम को 'आतंकवाद बनाम राष्ट्रवाद' की लड़ाई के तौर पर प्रस्तुत किया गया था।

अब ताज़ा सूरतेहाल यह है कि काफिले पर हुए कथित हमले का बहाना बनाकर विश्व हिन्दू परिषद की पहल पर तथा अन्य हिन्दूवादी जमातों की सहायता से जिस पूर्वाचल बन्द का आयोजन हुआ था, वह बिना किसी विशेष अप्रिय घटना के पार हुआ है; मगर आने वाले दिनों के लिए भी खतरनाक संकेत छोड़ गया है।

इसमें कोई दो-राय नहीं कि सूबा उत्तर प्रदेश में अन्दरूनी कलह का शिकार एवं जनता के बीच भी साख गंवा बैठी भाजपा को गोरक्षनाथ पीठ के उत्तराधिकारी युवा

सांसद आदित्यनाथ के रूप में एक ऐसा चेहरा मिला है, जिसे वह किसी भी कीमत पर त्यागना नहीं चाहती; भले ही उसके लिए उसे इस सांसद के सामने दण्डवत करना पड़े। पिछले विधानसभा चुनाव के वक्त भी हम इसी बात को देख चुके हैं जब अपने 'निजी' प्रत्याशियों को टिकट देने से इन्कार किए जाने पर आदित्यनाथ ने बाकायदा पार्टी छोड़ने की घोषणा की थी और भाजपा नेतृत्व पर समाजवादी पार्टी के हाथों बिकने के आरोप लगाए थे। यह बात भी इतिहास हो चुकी है कि उसके पहले के विधानसभा चुनाव में भाजपा के आधिकारिक प्रत्याशी को आदित्यनाथ ने ही हरवाया था।

योगी आदित्यनाथ की कार्यशैली पर बहुत सारगर्भित टिप्पणी पिछले साल 'आउटलुक' संवाददाता के साथ अपनी बातचीत में गोरखपुर के पूर्व जिलाधीश हरिओम ने की थी (आउटलुक, 19 फरवरी 2007)। मालूम हो कि पिछले साल जब योगी एवं उसके कारिन्दों ने गोरखपुर में दंगा भड़काने की कोशिश की थी तो इन्हीं जिलाधीश की पहल पर योगी को गिरफ्तार किया गया था। पत्रकार द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'योगी किस तरह से काम करते हैं?' श्री हरिओम ने बताया था कि वह किस तरह 'हर छोटे-बड़े मौके का फायदा उठाते रहते हैं। जो मुद्दे नहीं भी होते हैं उन्हें वह भड़काते हैं और उन्हें सांप्रदायिक रंग देते हैं। कहीं कभी कोई इत्तेफाकन मारपीट हो जाए और उसमें हिंदू-मुस्लिम लोग शामिल हों, कभी कोई हिंदू लड़की छेड़ दी जाए या फिर कहीं मुस्लिम घर का पानी हिंदू के घर या दुकान के सामने से जाता हो तो भी वह इसे सांप्रदायिक रंग दे देते हैं।'...

इसी अंक में उन तमाम चर्चित काण्डों की विधिवत सूची पेश की गयी थी जिसके तहत योगी और उनकी वाहिनी ने पंचरूखिया (महाराजगंज कांड) (10 फरवरी 1999), मोहनमुंडेरा (कुशीनगर 16-17 जून 2002), नथुआ कांड (23 जून, 2002), घासीकटरा कांड (गोरखपुर 16 अगस्त, 2003); नरकटहा कांड (महाराजगंज 20 अगस्त, 2002); धवई टोला कांड (देवरिया 3-4 नवंबर, 2003) जैसे तमाम काण्डों को अंजाम दिया; उत्पात मचाया, कहीं अल्पसंख्यकों के मकान जला दिए, कहीं उन्हें पीट डाला तो कहीं उनकी हत्या कर दी।

यह अकारण नहीं कि उत्तर प्रदेश अब गुजरात की राह?' शीर्षक अपनी साझा जांच रिपोर्ट राष्ट्रीय मानवाधिकार

आयोग को भेजते हुए (5 जुलाई 2002) में 'पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज' एवं 'इन्साफ' ने आयोग के अध्यक्ष के सामने 'शुद्ध जघन्य आपराधिक कुकृत्यों' को 'साम्प्रदायिक झगड़े का रूप' देने की योगी आदित्यनाथ की हरकतों एवं 'पुलिस व प्रशासन द्वारा 'योगी के आक्रामक रुख के समक्ष सुरक्षात्मक रहने की नीति' के चलते 'मुस्लिमों में भारी भय और आतंक का माहौल पैदा' होने की चर्चा की थी। पुलिस प्रशासन के भारी पैमाने पर साम्प्रदायीकरण और योगी द्वारा उन्हें खुलेआम निर्देशित करने की परिघटना का विशेष उल्लेख करते हुए उन्होंने 'कानून का राज्य' स्थापित करने के लिए विशेष कदम बढ़ाने की आयोग से अपील की थी।

वैसे अपने शुरुआती चरण में समुदाय विशेषों के खिलाफ अधिक आक्रामक कार्रवाइयों में संलग्न योगी, वर्तमान चरण में हिन्दुत्व की अपनी परियोजना के विस्तार के लिए वैचारिक तैयारी पर, रणनीतिक राजनीतिक हस्तक्षेप पर जोर देने में मुब्तिला दिखते हैं। यह अकारण नहीं कि 'हिन्दुवी' नाम से एक साप्ताहिक अखबार का प्रकाशन शुरू किया गया है, जिसके दैनिक समाचारपत्र में रूपान्तरित करने की योजना है। शिवसेना के मुखपत्र 'सामना' की तरह प्रस्तुत प्रकाशन को उन तमाम इलाकों में पहुंचाने की योजना है, जिनमें योगी अपनी सियासत के लिए सम्भावनाएं देखते हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के पिछड़ेपन को लेकर या अलग पूर्वांचल राज्य बनाने को लेकर लम्बे समय से मांग उठती रही है। अब तक इस मांग से अपने आप को लगभग अछूता रखे योगी ने पिछले कुछ समय से इस मांग को भी बुलन्द करना शुरू किया है, हालांकि पूर्वांचल के बजाय इस नये प्रस्तावित राज्य के लिए 'पुण्यांचल' की बात की जा रही है। गौरतलब है कि नेपाल में हालिया राजनीतिक परिवर्तनों के बाद - जिसमें माओवादी सबसे बड़ी पार्टी बन कर उभरे हैं और राजशाही का खात्मा किया गया है - पुण्यांचल की इस मांग के सन्दर्भ में महज पिछड़ापन के प्रश्न को नहीं उठाया जा रहा है बल्कि यह कहा जा रहा है कि हिन्दुस्तान की सुरक्षा की दृष्टि से भी यह राज्य जरूरी है। योगी का कहना है कि नेपाल में माओवादी जीत के बाद 'बौद्ध' चीन का दबदबा इलाके में बढ़ेगा और उससे निपटने के लिए एक सशक्त राज्य की जरूरत है।

हाल के युद्धों की अन्य विशेषताएं

■ आई.एस.डी.

...पिछले अंक से जारी

हालिया संघर्षों की अन्य साझा विशेषताएं युद्ध और न्याय की चाहत के संबंध को और अधिक चुनौती देती हैं।

नागरिकों के इर्द-गिर्द घूमता गृह-युद्ध

आज ज़्यादातर युद्ध दो देशों अथवा राज्यों के बीच लड़े जाने के बजाय राष्ट्रीय सीमाओं के भीतर रह रहे लोगों के बीच ही लड़े जा रहे हैं। ये ऐसे समूहों द्वारा परस्पर लड़े जा रहे हैं जिनका मिलकर साथ रहने और एक दूसरे की भाषा, धर्म और संस्कृति को अपनाने का एक लंबा इतिहास रहा है। ये युद्ध ऐसे लोगों द्वारा लड़े जा रहे हैं जो एक साथ काम कर चुके हैं, साथ-साथ पढ़े-लिखे हैं और कभी-कभी तो जिन्होंने एक-दूसरे के परिवारों में शादियां तक की हैं। एक-दूसरे के खिलाफ युद्ध कर रहे लोग अपने पुराने मित्रों, पड़ोसियों, सह कर्मचारियों, अपने साथ मिलकर पूजा-अर्चना करने वालों और कभी-कभी तो परिवार के सदस्यों के खिलाफ भी मोर्चे चला रहे हैं।

नागरिकों के इर्द-गिर्द घूमते गृह-युद्ध तो दैनिक जीवन की हर गतिविधि में लड़े जाते हैं। खुले कॉफी हाउस, एक गांव से दूसरे गांव जाने वाली बस, साप्ताहिक बाज़ार स्थल युद्ध क्षेत्र बन जाते हैं, उन्हें शिकार इसलिए बनाया जाता है क्योंकि ये ऐसे स्थल हैं जहां नागरिक बसते हैं और काम करते हैं। बूढ़े मां-बाप और जवान बच्चे इन युद्धों में शिकार और शिकारी दोनों ही भूमिकाओं में खप जाते हैं। वर्तमान युद्धरत समाजों के अनेक गांवों में युवक अपनी ऊंचाई जितने लंबे हथियार लेकर घूमते हैं।

आज के युद्ध ऐसे गैंग भी पैदा करते हैं जो युद्ध के कारण फैली अफरा-तफरी का फायदा उठाते हुए धमकियां देते हैं, लूट-पाट मचाते हैं, बलात्कार करते हैं और आम लोगों की हत्या कर डालते हैं। हालांकि ये गैंग किसी एक पक्ष की तरफ से युद्ध में शरीक रह सकते हैं लेकिन ऐसा कभी-कभार ही हो पाता है कि युद्ध के ढांचे के तहत उन्हें पूरी तरह नियंत्रित किया जा सके। इसलिए यह भविष्यवाणी करना

कठिन होता है कि वे अपने कमांडर की आज्ञा कब मानेंगे और कब नहीं। वे अपने समूह के सदस्यों द्वारा ही संगठित होते हैं और उनकी निष्ठा भी मुख्य रूप से इन्हीं सदस्यों के प्रति ही होती है। अक्सर ये अपने समाज के दूसरे सदस्यों के साथ लापरवाही से पेश आते हैं।

बहुत कम लोग ही इस बात से असहमत होंगे कि दक्षिण अफ्रीका के आंदोलन को चलाने में बहुसंख्यक अश्वेत जनसंख्या को शामिल किए जाने और उन्हें न्याय दिए जाने की इच्छा काम कर रही थी। कुछ लोगों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि रंगभेद की नीति के वर्षों के दौरान किए गए अपराधों की सुनवाई जब 'साउथ अफ्रीका ट्रुथ कमीशन' में चल रही थी तब कमीशन को दी गई गवाही में अश्वेत स्वतंत्रता सेनानियों ने महसूस किया कि हालांकि उनका मकसद सही था लेकिन 'इंसाफ' की चाह में किए गए उनके व्यवहार "आपराधिक" थे। भले ही मकसद अच्छा रहा हो लेकिन इसे पाने के लिए जब उन्होंने मासूमों (बच्चों) की हत्या की तब भी उन्हें पता था कि उनके नापाक जरिये उनके पाक मकसद के लिए सही नहीं थे। इन व्यक्तियों ने आगे बढ़कर देशवासियों के सामने अपने अपराध कबूल किए और अपने कुकृत्यों के लिए माफ़ी मांगी।

यहां तक कि ऐसे संघर्ष भी, जिनके बारे में बहुतांश का विचार है कि वे इंसाफ की चाहत के चलते अपनी ऊर्जा ग्रहण करते हैं, बढ़-चढ़ कर ऐसे तरीके अपना रहे हैं जो सही मकसद के साथ उनके जुड़ाव को चुनौती देने लगे हैं। जब स्वतंत्रता सेनानी उन बाज़ारों को बम से उड़ा देते हैं जहां महिलाएं भोजन सामग्री खरीदती हैं, जब सेनाएं आठ और दस साल के छोटे-छोटे बच्चों को लालच देकर उनका इस्तेमाल ताकतवर हथियार ढोने और चलाने के लिए करते हैं, जब अत्याचार, उत्पीड़न और आतंक (उदाहरण के तौर पर, सर काटना, अंग-भंग करना, जवान लड़कियों से बलात्कार या हिंसा के शिकार लोगों के क्षत-विक्षत शरीरों का दिल दहला देने वाला प्रदर्शन) जैसे तरीके सही मकसद को हासिल करने के लिए इस्तेमाल किए जाएं तो वो उस मकसद को सही

ठहराने संबंधी सभी तर्कों को निःसार बना देते हैं।

शायद यह तर्क पेश करना कि साधन और साध्य में एक गहरा रिश्ता होता है, एक परंपरावादी या दकियानूसी स्थिति लगे लेकिन ऐसा सोचने वाले हमारे अलावा दूसरे लोग भी हैं। हमने युद्ध में फंसे तमिलों और सिंहलियों, आइरिश और ब्रिटिश, फिलीस्तीनी और इस्रायली, और दूसरों को भी कभी-कभी उनके नाम पर इस्तेमाल किए जाने वाले तरीकों की भयावहता और जुगुप्सा के बारे में बात करते सुना है। यह सच लगता है कि युद्ध के सामाजिक-राजनीतिक परिणामों में ऐसे मिले-जुले इरादे जिन्होंने उन्हें युद्ध के लिए उकसाया और इन इरादों को हासिल करने के लिए अपनाए गए भयावह तरीके - ये दोनों ही परिलक्षित होते हैं। अगर सम्मान और आचार संहिता ने कभी युद्ध को कम दमनात्मक और ज़्यादा न्यायपूर्ण बनाया भी है तब भी परस्पर लड़ते रहने वाले समूहों ने नियमित रूप से इनकी उपेक्षा और अपमान करते हुए इनके महत्व को कम कर दिया है।

वर्तमान में अनेक युद्ध अचानक उपजे हैं। परिवर्तन के सभी रास्ते अपना लिए जाने के बाद अंतिम हथियार के रूप में इस्तेमाल किये जाने की बजाय युद्ध का इस्तेमाल पहले ही कर लिया जाता है। ऐसा अकसर इसलिए किया जाता है कि कहीं दूसरे सत्ता पहले न हथिया लें। इधर-उधर ले जाए जा सकने वाले, आसानी से छुपा लिए जा सकने वाले और खतरनाक छोटे हथियारों और “हल्के” हथियारों की अधिकता तुरंत हिंसा का दामन थामने में मदद पहुंचाती है। यही कारण है कि वर्तमान समय में ज़्यादातर युद्धों की पृष्ठभूमि में कूटनीतिक और बीच-बचाव के प्रयासों की असफलता शामिल नहीं होती है।

नागरिकों और नागरिक जीवन को आक्रांता और मुख्य शिकार दोनों ही रूपों में युद्ध में खपा लेना इस दावे को चुनौती देना है कि युद्ध इंसाफ़ को बढ़ावा देते हैं। युद्धरत अनेक लोगों द्वारा अपनाए जाने वाले तरीके अच्छे उद्देश्य और हिंसक साधनों के बीच किसी प्रकार के अंतर्निहित संबंध को नुकसान पहुंचाते हैं। किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोग सबकी भलाई या फिर परस्पर स्वीकृत हलों की खोज करने में दूसरों की मदद लेने के बजाय जिस आसानी से हत्या का रास्ता अख्तियार कर लेते हैं वो हिंसा के इस्तेमाल और इंसाफ़ पाने के बीच के संबंध को कमज़ोर कर देता है।

अनेक हालिया और वर्तमान में जारी युद्धों की ये साझी

विशेषताएं उन्हें इंसाफ़ हासिल करने में असफल बना देती हैं। हमारा यह फैसला अनेक पर्यवेक्षणों पर आधारित है। इससे भी महत्वपूर्ण है कि यही फैसला अनेक उन लोगों का भी है जिनसे हम मिल चुके हैं और जो खुद भी संघर्ष या युद्ध में शामिल हैं।

युद्ध से किसे मुनाफ़ा और नुकसान होता है

इंसाफ़ की चाहत और युद्ध के रिश्ते को और अधिक चुनौती तब मिलती है जब हम युद्ध के फ़ायदे और नुक़सान का जोड़-तोड़ करने बैठते हैं। निःसंदेह कुछ लोगों को युद्ध से फ़ायदे होते हैं लेकिन इन फ़ायदों का आनंद चंद लोग ही लेते हैं जबकि युद्ध की लागत का बंटवारा व्यापक और बड़े स्तर पर किया जाता है।

आर्थिक फ़ायदों के मज़े तो युद्ध का नेतृत्व करने वाले उठाते हैं जिनकी व्यक्तिगत तिजोरियां सीमाओं के अतिक्रमण, चोरी और कर उगाही से भर जाती हैं। सैनिक और ठगों के गैंग भी अपने हथियारों की ताक़त का इस्तेमाल व्यक्तिगत दौलत कमाने के लिए करते हैं। हथियारों के सौदागर युद्ध के लंबा खिंचते चले जाने से और भी ज़्यादा कमाते हैं, खासकर वो निर्माता और छोटे व्यापारी जो वर्तमान समय के युद्धों में नागरिकों को डराने के लिए छोटे हथियार और दूसरे तरह के हथियारों को बनाते और बेचते हैं। हथियारों के निर्माण और बिक्री का धंधा और फ़ायदा अनेक क्षेत्रों में चलता है। हथियार बनाने वाले देशों की सरकारों ने अपने देश के निजी स्वामित्व वाले उद्योग के बाज़ार तलाशने के प्रयासों का हमेशा समर्थन किया है और ऐसा दो कारणों से किया है एक क्षेत्र विशेष में बेरोज़गारी न बढ़े और दूसरा दोबारा युद्ध करने की नौबत आती है तो हथियार उत्पादन की क्षमता बनी रहे।

जैसा कि हमने अध्याय चार में विस्तार से दिया है, वे लोग भी आय और मुनाफ़ा कमाते हैं जो युद्ध के शिकार हुए लोगों की सेवा में लगे होते हैं। 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में सहायता पहुंचाने वाली एजेंसियों की संख्या और कभी-कभी बड़े स्तर पर संसाधनों के हस्तांतरण के वाहक के रूप में इन एजेंसियों पर निर्भरता बहुत अधिक बढ़ गयी है। संघर्ष प्रभावित क्षेत्रों के ऐसे लोग जिनका संसाधनों पर कब्ज़ा है या जिनके पास सहायता दाता समुदाय की ज़रूरतों के अनुसार क्षमताएं हैं वे संघर्ष जनित संकट के चलते मानवीय सहायता के नाम पर बहाई जाने वाली अकूत दौलत से लाभ कमा सकते हैं।

युद्ध के बाद के कोलंबिया और ग्वाटेमाला में स्थानीय मध्यस्थता परिषदों में प्रतिनिधित्व केवल छापामार आंदोलन और सरकार के माध्यम से संचालित किया गया था। इसका मतलब यह हुआ कि वे आदिवासी भारतीय समुदाय जो साफ-तौर पर किसी भी पक्ष के साथ नहीं थे (हालांकि अक्सर वे हिंसा में भागीदार और हिंसा के शिकार रह चुके थे) उनकी संघर्ष के बाद की योजना प्रक्रिया में अनदेखी कर दी गई। कुछ कथनों के अनुसार, केवल छापामार और सरकारी प्रतिनिधियों को शामिल करने के निर्णय ने स्थानीय नागरिक समाज के ज़्यादा नरमपंथी और समझौतापरस्त पहलुओं को कमजोर कर दिया और युद्ध के बाद के कार्यक्रम नियोजन को प्रभावित किया। उदाहरण के तौर पर, योजनामंचों से समुदाय के लोगों को बाहर रखने का मतलब था कि कार्यक्रम इस तरह तैयार किए गए थे कि समाज में सैनिकों की उपस्थिति फिर से हो सके, लेकिन इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि सैनिकों के समाज से दोबारा (यह लोगों की एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने के लिए कहीं ज़्यादा असरदार रणनीति हो सकती है) जुड़ने में स्थानीय समुदाय उनकी किस प्रकार मदद कर सकते हैं।

जबकि युद्ध से कमाई गई दौलत चंद समूहों के पास ही इकट्ठा होती जाती है, वहीं युद्ध से हुए नुकसान व्यापक होते हैं और असंख्य लोगों के अनुभवों का हिस्सा बनते हैं। सम्पत्ति का विनाश व्यक्तिगत परिवारों, मालिकों, समूचे समुदायों और राष्ट्रों को प्रभावित करता है। मृत्यु, विकलांगता और सेहत के नुकसान की सीधी और परोक्ष दोनों ही तरह की कीमत चुकानी पड़ती है।

साथ ही युद्ध के सामाजिक-राजनीतिक नुकसान और फ़ायदे भी हैं। सभी युद्धों में राजनीतिक सत्ता को सैन्य ताक़त के रूप में चिन्हित कर लिया जाता है (कम से कम कुछ समय के लिए)। जो समूह या व्यक्ति सैन्य स्तर पर अपनी धाक जमा पाता है वही राजनीतिक और सामाजिक हेकड़ी दिखा पाता है। आज़ादी के लिए लड़े गए युद्ध की सफलता ऐसी अंतर्वेशी और लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को ज़रूर जन्म दे सकती है जिनसे हर किसी को फ़ायदा मिल सके लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ऐसा कभी-कभी ही होता है। लड़ाकू समूह अपनी सेनाओं के दूसरे सदस्यों के साथ जो सूखापन अनुभव करते हैं उसके बारे में अक्सर बात करते हैं। साहस, त्याग और जोखिम और साथ-साथ लड़ने से पैदा हुई परस्पर निर्भरता एक रिश्ता बनाती है जिसे युद्ध में हिस्सा लेने वालों को मिले

सामाजिक फ़ायदे के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन जब यही “फ़ायदे” ऐसे समूह को परिभाषित करने लगते हैं जो आम नागरिकों पर कहर बरपाने लगता है तो दूसरों को इसका भारी खामियाज़ा भुगतना पड़ता है।

जब ऐसे व्यक्तियों और समूहों द्वारा, जो न्यायपूर्ण व अंतर्वेशी व्यवस्थाओं को स्थापित करने की बजाय अपना फ़ायदा उठाने की फ़िराक में ज़्यादा रहते हैं, सैन्य महत्ता बरकरार रखी जाती है तब युद्ध से होने वाले फ़ायदे एकतरफ़ा व ख़ास लोगों के लिए होते हैं। युद्ध का नेतृत्व करने वाले ही जल, ज़मीन और संसाधनों पर कब्ज़ा जमा लेते हैं। इसके अलावा बी.बी.सी. और सी.एन.एन. को साक्षात्कार देकर और यूरोप की राजधानियों में समझौता वार्ताएं कर वे अंतर्राष्ट्रीय वैधता भी हासिल कर सकते हैं। अक्सर, यह वैधता उनके लक्ष्य की लोकप्रियता को परिलक्षित करने से ज़्यादा हिंसा के उस व्यापक स्तर को परिलक्षित करती है जिसको ये लोग बढ़ावा देने में सक्षम रहे। युद्ध स्थल के परिणामों के लिए “राजनीति” एक सांकेतिक शब्द मात्र ही हो सकता है।

अगर कोई भी पक्ष सैनिक फ़ायदा नहीं उठा सकता है तो युद्ध अनिश्चितकाल तक चलाया जा सकता है जिसका परिणाम होता है कि सामाजिक व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और अनेक लोगों को कष्ट झेलने पड़ते हैं। क़ानून-व्यवस्था का अभाव और धोखाधड़ी व्यापक समाज में सामाजिक सामंजस्य को तिरोहित कर देते हैं।

यहां तक कि अगर एक पक्ष युद्ध में विजयी हो भी जाता है और इस तरह कुछ राजनीतिक और सामाजिक फ़ायदे उठा भी लेता है, फिर भी उसे सामाजिक नुक़सान झेलने ही पड़ते हैं। अनेक लोग मानसिक सदमा, निराशा और स्थानांतरण का शिकार हो जाते हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं जब युद्ध ग़लत लक्ष्यों के लिए या हिंसात्मक साधनों द्वारा लड़े जाते हैं तो ज़रूरी नहीं है कि उनका लक्ष्य न्यायसंगत व्यवस्थाओं को स्थापित कर पाए। हालिया नागरिक युद्धों को झेल चुके अनेक समाजों की राजनीति और सामाजिक व्यवस्थाओं की मुख्य विशेषताएं हैं विरासत में मिला अविश्वास और अंतर्समूह घृणा। ताक़त हथियारों से तय होती है न कि इंसफ़ से - यह सच अविश्वास, भय, घृणा और सदमा जैसी युद्ध की विरासत के साथ मिलकर आसान सी दिखने वाली इस मान्यता को चुनौती देता है कि संघर्ष और इंसफ़ का सीधा संबंध है।

शेष अगले अंक में...

खंडित क्षेत्र की साझी विरासत

■ आई.एस.डी.

हर इंसान की कई पहचानें होती हैं। हम सदा अपनी राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, धार्मिक, जातीय, लैंगिक और कई दूसरी पहचानों से बंधे होते हैं। पहचानों के इस अजीबोगरीब उलझाव को कैसे समझा जाए? क्या यह पहले से तय किया जा सकता है कि इनमें से कौन सा आयाम पहचान निर्धारण की प्रक्रिया में ज्यादा अहम भूमिका निभाता है? राष्ट्रीय पहचान का सवाल एक आधुनिक परिघटना है। इसका इतिहास उन्नीसवीं सदी से ज्यादा पुराना नहीं है। हमारी धार्मिक (या सामुदायिक) पहचानें कहीं ज्यादा पुरानी हैं। लेकिन ऐसी पहचानों का स्वरूप भी आधुनिक काल में काफी बदल चुका है। भौगोलिक सीमाओं के आर-पार धार्मिक एकजुटताओं का बनना और उनका सियासी जोड़-तोड़ में इस्तेमाल किया जाना निश्चय ही एक आधुनिक परिघटना है।

पहचान का सवाल उन इलाकों में और जटिल हो जाता है जो कल तक सांस्कृतिक स्तर पर एकबद्ध थे लेकिन आज टूट-फूट और बिखराव के दौर से गुजर रहे हैं। पंजाब और बंगाल दो ऐसे ही उदाहरण हैं। इस बात से शायद ही कोई असहमत होगा कि उपमहाद्वीप के उत्तरी और पूर्वी छोर पर स्थित इन दोनों इलाकों का सांस्कृतिक परिवेश एक ज़माने में मुख्य रूप से उनकी क्षेत्रीय पहचानों से बंधा हुआ था। दोनों क्षेत्र मध्यकाल से ही बहुधर्मी इलाके रहे हैं। 1931 की जनगणना के अनुसार बंगाल की आबादी में उस समय हिंदुओं और मुसलमानों की संख्या क्रमशः 43 प्रतिशत और 54 प्रतिशत थी। सिख धर्म के कारण पंजाब में धार्मिक विविधता और भी ज्यादा थी। 1931 में पंजाब की आबादी में मुसलमानों, हिंदुओं और सिखों की संख्या क्रमशः 55, 31 और 11 प्रतिशत थी। इन आंकड़ों को देखकर ऐसा लगता है कि इन इलाकों की संस्कृति भी धार्मिक आधार पर बनती-बिगड़ती रही होगी। लेकिन ऐसा नहीं था। यहां धर्म बहुआयामी रहा है। खासतौर से हिंदू धर्म में बहुलता के लिए खूब गुंजाइश थी। उसके भीतर तरह-तरह के पंथ चलते थे। इन इलाकों की धार्मिक बहुलता और विविधता ने उन्नीसवीं सदी तक क्षेत्रीय स्तर पर साझी संस्कृति के विकास में कोई

बाधा नहीं पहुंचाई। लेकिन उन्नीसवीं सदी के बाद विघटनकारी प्रवृत्तियां सिर उठाने लगीं।

पहचानों की विविधता का सवाल सभी इलाकों के लिए एक जैसा नहीं रहा है। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ इलाकों (या कुछ समूहों और समुदायों) पर ऐसे मसलों का बहुत गहरा असर पड़ता है जबकि दूसरे इलाकों या समुदायों पर उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। यह समस्या बंगाल के मामले में ज्यादा साफ दिखायी देती है। आइये इसी बात को और ठोस अर्थों में समझने का प्रयास करें। बंगाल के पश्चिमी भाग (भारतीय बंगाल) में रहने वाला मुसलमान अपनी प्राथमिक पहचान को लेकर बार-बार संदेह का सामना करता है। उसके सामने यह सवाल बार-बार उठता है कि वह धार्मिक मुस्लिम समुदाय (उम्मा या सार्वभौमिक मुस्लिम विरादरी) का सदस्य है, या क्षेत्रीय बंगाली समुदाय का हिस्सा है या एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय समुदाय का हिस्सा है? उसकी राष्ट्रीय, धार्मिक और क्षेत्रीय पहचानों का एक-दूसरे में समावेश मुश्किल रहता है। इसकी वजह से वह अलग-अलग समूहों में खड़ा दिखायी देने लगता है। उससे वफादारी और ताल्लुक के स्तर पर अलग-अलग, बल्कि कई बार टकरावपूर्ण अपेक्षाएं रखी जाती हैं। इतना ही नहीं, इनके अलावा उसकी दूसरी पहचानें (जेंडर, इलाके, पेशे, पंथ आदि पर आधारित) भी हो सकती हैं। लेकिन बंगाल के प्रसंग में क्षेत्रीय, धार्मिक और राष्ट्रीय पहचानें ऐतिहासिक रूप से बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण रही हैं।

यहां इस बात को रेखांकित करना महत्वपूर्ण रहेगा कि कई तरह की पहचानों का सवाल मानवता के साथ प्रायः हमेशा ही रहा है। इन पहचानों ने आधुनिकता के आने तक कभी कोई खास समस्या पैदा नहीं की। ऐतिहासिक रूप से मनुष्य अलग-अलग समूहों में रहता रहा है और उन समूहों के साथ उसकी पहचान भी जुड़ी रही है। ये समूह कुटुम्ब, जाति, धर्म, इलाके आदि के आधार पर बने होते थे। इन समूहों के साथ अपनी पहचान की वजह से चेतना या निष्ठा के स्तर पर उसे कभी कोई समस्या पेश नहीं आयी। एक से

अधिक पहचानों का सहअस्तित्व मानवता के इतिहास का एक सामान्य पहलू रहा है। यह उसके लिए कोई *समस्या* या दुविधा नहीं थी। आधुनिकता के आने के बाद ऐसा नहीं रहा। आधुनिकता कई पहचानों को तो स्वीकार करती है लेकिन पहचानों की ऊंच-नीच की मांग भी करती है। आधुनिकता के आने के बाद पहचानें ऊंच-नीच के खानों में बंटने लगती हैं। आधुनिक मनुष्य एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहां उसे अपनी बहुत सारी पहचानों में से किसी एक पहचान को सबसे महत्वपूर्ण या केंद्रीय पहचान बनाना पड़ता है। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी किसी एक पहचान को बुनियादी, सर्वसमावेशी और व्यापक पहचान का दर्जा दे। इस परिस्थिति में ज्यादातर राष्ट्रीय पहचान को ही औरों के ऊपर प्राथमिकता मिलती है। कभी-कभी धार्मिक पहचान के रूप में भी राष्ट्रीय पहचान ही अभिव्यक्त होती है। संक्षेप में, अपने साथ हमेशा बहुत सारी पहचानें लेकर चलने वाले मनुष्य को आधुनिक परिस्थितियों में अपनी पहचानों का क्रम और उनके बीच ऊंच-नीच तय करनी ही पड़ती है।

पहचानों की ऊंच-नीच पर इस दबाव से बंगाल (और एक हद तक पंजाब) के मामले में एक समस्या पैदा हो जाती है। पूरा बंगाल सदियों तक भौगोलिक और सांस्कृतिक स्तर पर एकजुट रहा है लेकिन बीसवीं सदी में उसे तीन विभाजनों का दंश झेलना पड़ा। पहले विभाजन 1905 को तो जल्दी ही रद्द कर दिया गया लेकिन 1912 में दूसरा विभाजन (1947) स्थायी और निर्णायक साबित हुआ। बंगाल के एक हिस्से को पूर्वी पाकिस्तान और नवगठित पाकिस्तान राष्ट्र-राज्य का हिस्सा घोषित कर दिया गया जिसका मुख्यालय पंजाब में था। बंगाल के दूसरे हिस्से को पश्चिम बंगाल का नाम दिया गया और वह भारत का एक सूबा बना रहा। बंगाल का यह विभाजन धर्म पर आधारित था। पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की और पश्चिमी बंगाल में हिंदुओं की संख्या ज्यादा थी। नवगठित पाकिस्तान के लोगों को लगता था कि पूर्वी बंगाल सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप से भले ही बहुत अलग हो लेकिन धर्म, खासतौर से इस्लाम की विचारधारा उसे शेष पाकिस्तान के साथ जोड़े रखने में अहम भूमिका निभाएगी। लेकिन भौगोलिक और सांस्कृतिक पहचान की चाह ने 1971 में एक बार फिर सिर उठाया और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान से अलग होकर बांग्लादेश के नाम से एक संप्रभु राष्ट्र राज्य बन गया। यहां हमें इस बारे में सोचना चाहिए कि वे कौन से कारक रहे हैं जिन्होंने बंगाल के दोनों हिस्सों को एक-दूसरे से अलग रखा है? आखिर दोनों इलाकों की संस्कृति

और भाषा तो एक ही है। बांग्लादेश का राष्ट्रगान भी रवींद्रनाथ टैगोर ने ही लिखा है। टैगोर संभवतः एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिनके गीतों को दो अलग-अलग देशों में राष्ट्रगान का दर्जा दिया गया है। फिर भला वह कौन सी बात है जो बंगाल के दोनों हिस्सों को एक-दूसरे से अलग रखती है? क्या यह धर्म का मामला है? या राष्ट्र राज्य का तर्क ही ऐसा होता है कि एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद उसे वापस नहीं मोड़ा जा सकता?

बंगाल के बारे में सबसे दिलचस्प बात यह है कि मुस्लिम बहुल इलाका होते हुए भी यहां कभी खालिस इस्लामिक माहौल नहीं था। बंगाल में जो इस्लाम फैला वह उच्चतर, सिद्धांतनिष्ठ और शास्त्रोक्त इस्लाम नहीं था। यह निम्नतर, सूफियाना, अनुष्ठानिक और रूढ़िवादी इस्लाम था। इसी कारण यहां समावेशी और साझी संस्कृति के बीज पड़ने लगे जो उन्नीसवीं सदी तक बंगाल के भू-दृश्य को अपने आगोश में लिये रही। बंगाल में इस्लाम के इस पहलू पर बहुत सारे लोगों ने विचार किया है और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है। बंगाल के सांस्कृतिक तौर-तरीके न खालिस हिंदू थे और न ही खालिस इस्लामिक। “उच्चतर” इस्लाम के हिमायती इन तौर-तरीकों को भ्रष्ट मानते थे। मिसाल के तौर पर, सोलहवीं सदी में ही बंगाल के मुगल सूबेदार एहतिमान खान ने बंगालियों के देशी तौर-तरीकों की निंदा करते हुए उन्हें ‘गैर-इस्लामिक’ बताया था। इस्लामिक आचरण से इन कथित भटकावों पर सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक भी टीका-टिप्पणियां चलती रहीं। उन्नीसवीं सदी के आखिर में बंगाल में तैनात एक अंग्रेज डॉ. जेम्स वाइज़ बंगाली मुसलमानों के “हिंदू धर्म से प्रभावित भ्रष्ट” तौर-तरीकों का मखौल उड़ाया करते थे। बीसवीं सदी की शुरुआत में जाने-माने मुस्लिम बुद्धिजीवी सैयद अमीर अली ने भी बंगाली मुसलमानों को कमतर मानते हुए कहा था कि वे “मुख्य रूप से हिंदू धर्म से धर्मांतरित” हैं और अभी भी बहुत सारे “हिंदू रीति-रिवाजों को मानते” हैं। कुछ समय बाद भारतीय धर्मों के अंग्रेज विशेषज्ञ विलियम क्रूक ने बंगाली मुसलमानों को “इस्लाम के साथ अधूरे तौर पर जुड़ा हुआ” बताया। पूर्वी पाकिस्तान के गवर्नर मलिक फिरोज़ खान नून ने 1952 में बंगाली मुसलमानों को “आधा मुसलमान” कहा था।

समकालीन टीकाकारों और राजनेताओं के अलावा बहुत सारे इतिहासकारों ने भी इस परिघटना पर टिप्पणी की है। मोहम्मद मुजीब उन्हें “अधूरा धर्मांतरित” बताते हैं जबकि

पीटर हार्डी की राय में वे सिर्फ “जनगणना की दृष्टि से ही मुसलमान” हैं। हार्डी ने लिखा था : “.... मध्यकालीन भारत में इस्लाम की मान्यताओं और आचरण की शुद्धता को असली खतरा ग्रामीण समाज में दिखायी देता था। नए मुसलमान इस बात से बेखबर थे कि इस्लाम के तहत उन्हें कैसा आचरण करना चाहिए। ‘हिंदुत्व’ उनके दैनिक जीवन में घुसता जा रहा था।” एक और बंगाली इतिहासकार ने कहा था कि बंगाली मुसलमानों के धार्मिक जीवन पर एक तरह का *लोक इस्लाम* हावी है; “धर्म के जड़ सूत्रों से उनका कोई ताल्लुक नहीं है।” इस्लामिक रुझान वाले एक और बंगाली इतिहासकार ने इस प्रवृत्ति पर दुख व्यक्त करते हुए लिखा था : “इस प्रकार, संख्या में बहुत ज्यादा गैर-मुसलमानों के साथ लंबे साहचर्य के फलस्वरूप और इस्लाम के मूल क्षेत्र से कटे होने और अर्ध-धर्मातरित हिंदुओं की बहुलता के चलते मुसलमान मूल आस्था से बुरी तरह भटक चुके हैं। उनका भारतीयकरण हो गया है।”

इन सारी टिप्पणियों को एक खास नज़रिये से समझा जाना चाहिए। मध्यकाल से उन्नीसवीं सदी तक बंगाल में इस्लाम के जिस रूप को अपनाया गया उसमें साझेपन के तत्व बहुत गहरे थे। यह साझापन अरब से आए उच्चतर इस्लाम के मूल्यों की बंगाली इस्लाम में घुसपैठ का परिणाम था जो कि बहुत सारे हिंदू/गैर-इस्लामी आचारों से जुड़ा हुआ था। उच्चतर इस्लाम का साहित्य अरबी और फारसी में लिखा होता था इसलिए आम मुसलमान उसे पढ़-समझ नहीं पाते थे। लिहाजा, अरबी और फारसी भाषाओं में संहिताबद्ध इस्लामिक परंपराएं बंगाली मुसलमानों के निचले तबकों की पहुंच से बाहर थीं जबकि बहुत सारी गैर-इस्लामिक देशी परंपराएं उनकी पहुंच में थीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि गरीब मुसलमान शास्त्रीय इस्लाम के मुकाबले स्थानीय परंपराओं का ज्यादा पालन करने लगे। सैयद सुल्तान नामक एक व्यक्ति ने लिखा था : “पढ़े-लिखों के लिए तो अरबी और फारसी में *किताबों* की कोई कमी नहीं है लेकिन बेपढ़े-लिखे उन्हें नहीं समझ सकते। वे अपने धर्म की एक भी अवधारणा को न जानने के कारण स्थानीय किस्से-कहानियों में ही खोये रहते हैं। घर-घर में हिंदू-मुसलमान, सब, हिंदुओं के महाकाव्य *महाभारत* में तो डूबे रहते हैं जिसे कवींद्र परमेश्वर ने बंगाली में तब्दील कर दिया है... लेकिन *खोड़ा* और *रसूल* के बारे में कोई नहीं सोचता।” बंगाल के मुसलमानों में *रामायण* भी उतनी ही लोकप्रिय थी। एक टीकाकार ने लिखा, “रामकथा को *यवन* (मुसलमान) भी आदर से सुनते हैं और सीता से वियोग पर राम

की पीड़ा को देखकर आंसुओं में डूब जाते हैं।”

यह भाषायी विभाजन *अशराफ* (शाही या विशुद्ध वंशावली वाले) और *अजलाफ* (निचले तबकों से धर्मांतरण करके बने मुसलमान) के बीच मौजूद सामाजिक और सांस्कृतिक खाई को और चौड़ी करता जा रहा था। एक *शरीफ* (*अशराफ* का एकवचन) ने उच्चतर इस्लाम के स्थानीय मुसलमानों की पहुंच से बाहर चले जाने पर दुखी होते हुए कहा था : “उच्चतर मुसलमान न तो बंगाली को अपना पाए हैं और न ही अपनाना चाहते हैं। इस वजह से उनके और निम्नतर मुसलमानों के बीच ताल्लुक खराब हो चुके हैं। हम बंगाली नहीं सीखते—और हमारे निचले तबके फारसी नहीं सीख सकते...। ऐसे में, दोनों के बीच साथ चलने का सहोदर वाला भाव नहीं पैदा हो सकता।” भाषा का मतलब सिर्फ यह नहीं था कि व्यक्ति पवित्र पुस्तकों को पढ़ सकता है या नहीं। दरअसल, भाषा सांस्कृतिक संवाद, मुहावरे, प्रतीकों और कल्पनाओं का माध्यम भी थी। जब ये सारी चीजें आम बंगाली मुसलमानों की पहुंच से बाहर हो गईं तो उन्होंने जो सामने आया उसे ही अपना लिया। उन्होंने बंगाली नृत्य नाटिकाएं, लोक कथाएं, स्थानीय मिथकीय परंपराएं पकड़ लीं।

जब इस्लाम के माहिरों ने उच्चतर इस्लाम को बंगाली मुसलमानों की समझ में आने लायक बनाने का प्रयास शुरू किया तो इसके लिए उन्हें भी उच्चतर इस्लामिक कायदे-कानूनों से फासला बनाना पड़ा। *नबी* और *रसूल* को पैगंबर नहीं बल्कि *अवतार* के रूप में पेश किया जाने लगा। उन्होंने अल्लाह को पैगंबर मोहम्मद का जन्मदाता बताया और कहा कि अल्लाह ने मोहम्मद को “अपने ही रूप” से नवाज़ा है। *कृष्ण* को अल्लाह के संदेशवाहक की तरह पेश किया गया। राम को भी एक पैगंबर की श्रेणी में रखना पड़ा। इस प्रकार इस्लाम की पैगंबर-केंद्रित परंपरा को हिंदुत्व की अवतार-केंद्रित परंपरा के साथ जोड़ा गया ताकि इस्लाम का एक ऐसा रूप लोगों के सामने पेश किया जा सके जिसे बंगाल के गरीब मुसलमान भी समझ पाएं। यह सब इसलिए किया गया क्योंकि राम और कृष्ण स्थानीय सांस्कृतिक माध्यमों से बंगाली मुसलमानों के घर-बार और जिंदगी में गहरी पैठ बना चुके थे। इन्हीं कारणों से बंगाल के लोगों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दुनिया में साझा परंपराओं ने अपनी जबर्दस्त उपस्थिति दर्ज कराई। ऐसी ही कहानी पंजाब की रही जहां शक्तिशाली सूफी आंदोलन ने लोक संस्कृति को साझा तत्वों से सराबोर कर दिया था।

शीराजे हिन्द जौनपुर

■ अजित यादव

जिनके ज़ेहनों में आग नफरत की
हाथ जिनके लहू में लिथड़े हैं
मुट्टियों में भरे हुए सपने, जब में चूड़ियों के टुकड़े हैं
कोई इन कातिलों को समझाए, खून तो कौम की अमानत है
खेलते हैं जो इस अमानत से
उनकी अंधी हवस को लानत है।

जी हां! क्योंकि इस शहर के ज़रों में दिल धड़कता है, यमदग्नि ऋषि की तपोस्थली, परशुराम की प्रशिक्षण स्थली, मध्यकाल के शीराजे हिन्द की अपनी अलग मिशाल ही है क्योंकि जब भी मुल्क में सांप्रदायिकता का गुबार उठा है यहां तक पहुंचते-पहुंचते उसकी जान निकल गई, कौमी एकता का जो पाठ जौनपुर ने पढ़ाया उसका उदाहरण मुश्किल है। परिणामस्वरूप यह देखा जा सकता है

मुसलमाँ और न हिन्दू बोलता है,
सरों पर चढ़ के जादू बोलता है।
अभी तहज़ीब ज़िंदा है हमारी,

क्योंकि हर शख्स यहां इंसानों की तरह बोलता है।

आज भी गंगा-जमुनी संस्कृति की जीवन्त झलक आसानी से यहाँ अनुभव की जा सकती है। इस शहर को तरीके से जानने के लिए इतिहास की मदद लेना या उसकी शरण में जाना ज़रूरी जान पड़ता है।

किस्से कहानियों से आरम्भ होकर इतिहास आज ऐसे मुक़ाम पर पहुंच गया है कि इसे इन्सानियत से संबंधित तमाम ज्ञान विज्ञान की आत्मा कहा जा सकता है, इसलिए अगर यह कहा जाये कि इतिहास सब कुछ और सब कुछ इतिहास में निहित है तो गलत न होगा हालांकि इसको परिभाषित करने में विद्वानों ने अलग-अलग विचार तथा नज़रिये अवश्य प्रकट किये हैं कार्ल बेकर ने कहा है कि 'गुजरी हुई राजनीति ही वर्तमान इतिहास है।' ई. एच. कारवी की राय में 'इतिहास शोधयुक्त सच्चाइयों पर आधारित है', ईरानी इतिहासकार अरअशी इतिहास को ऐसा ज्ञान बताते हैं जो अगले समय के लोगों के बारे में सूचनाएं प्रेषित करने पर आधारित होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस तरह ललित कलाएं जीवन और जीवन से संबंधित

इन्सानी जज़्बों को विभिन्न रूप से चित्रित करती रहती हैं ठीक उसी तरह इतिहास का ज्ञान भी गुज़रे हुए लोगों के घटनाक्रमों को आने वाली नस्लों तक पहुंचाती रहती है। वर्तमान काल में इतिहास की बारीकियों को समझने के लिए अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, मुख्य रूप से यदि विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मध्यकालीन युग की तमाम ऐतिहासिक पुस्तकें फारसी भाषा में लिखी गई हैं और सच्चाई यह है कि हम फारसी भाषा से अनभिज्ञ हैं,

जौनपुर जो इतिहास में सलातीन-ए-शर्कियों के नाम से जाना व पहचाना जाता है इसका पूरा इतिहास भी एक जगह आसानी से नहीं मिलता है इसका मुख्य कारण यह है कि जब बहलोल लोदी ने जौनपुर पर हमला किया तो सबसे पहले उसने शर्की सल्तनत के शाही पुस्तकालय को जलाकर राख किया।

फिर भी अलग-अलग जैसे तारीखे शाही, तबकाते अकबरी, आइने अकबरी, तारीखे फरिश्ता जैसी महत्वपूर्ण किताबों में जौनपुर के बारे में जानकारी मिलती है और ये सब किताबें फारसी भाषा में हैं।

फिरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात जिन प्रांतों ने सर्वप्रथम अपनी स्वाधीनता की स्थापना कर ली थी और नये राजवंश की नींव डाली उनमें जौनपुर भी एक था। जौनपुर की स्थापना फिरोज़ तुगलक ने ही 1359 ई. में बंगाल अभियान के दौरान की थी। यह नगर गोमती नदी के किनारे स्थापित किया गया।

1394-1401 के बीच मलिक हुसैन सरवर शर्की तथा उसके दत्तक पुत्र मलिक करनफूल मुबारक शाह का शासन रहा इस बीच उनके राज्य की सीमाएं कोल, सम्भल तथा रापरी तक फैली थी मलिक हुसैन सरवर शर्की ने तिरहुत एवं दोआब के साथ-साथ बिहार पर भी प्रभुत्व स्थापित किया था। उसने अपने शासन विस्तार हेतु दिल्ली, बंगाल तथा मालवा के साथ भी संघर्ष किया लेकिन सफल न हो सका। मुबारक शाह के समय में दिल्ली के मल्लू इकबाल का जौनपुर पर आक्रमण हुआ लेकिन जौनपुर सुरक्षित रहा।

1401-1440 तक शासक रहे इब्राहीम शाह शर्की ने यहां का इतिहास बदल दिया, इसने अपने शासनकाल में शैक्षिक विकास को विशेष महत्व दिया। उसने पाठशालाओं तथा विद्यालयों की स्थापना की तथा विद्वानों को सम्मान दिया। उसके शासनकाल में इस्लामी धर्मशास्त्र कानून आदि विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना हुई। इब्राहिम ने अपने शासनकाल में राज्य का विस्तार भी किया। 1406 में उसने कन्नौज को अपने अधीन कर लिया।

उसने बंगाल के शासक गणेश को 1414 ई. में पराजित किया। दिल्ली पर भी उसने कई बार आक्रमण किए परन्तु सफल न हो सका। 1440 में इब्राहिम शाह की मृत्यु के बाद महमूद शाह ने 1457 तक शासन किया। इस दौरान उसने चुनार पर आक्रमण कर अधिकार किया तथा दिल्ली पर आक्रमण के दौरान बहलोल लोदी से पराजित हुआ एवं 1457 में उसकी मृत्यु हो गयी। 1457 से 58 के बीच मोहम्मद शर्की ने शासन किया। 1457 में सिंहासनरूढ़ होने वाले हुसैनशाह शर्की ने बहलोल लोदी से संधि कर ली। यह शर्की वंश का अंतिम शासक था। 1483-84 में बहलोल लोदी ने जौनपुर पर अधिकार कर लिया तथा अपने पुत्र बारबकशाह को जौनपुर का सिंहासन सौंप दिया। हुसैनशाह बिहार चला गया, अंतकाल तक जौनपुर को वापस पाने की कोशिश की लेकिन असफल रहा।

तैमूर के आक्रमण के बाद जब स्वतंत्र जौनपुर प्रांत अस्तित्व में आया तो इब्राहीम शर्की के शासनकाल में साहित्यिक तथा कलात्मक कार्यों को प्रोत्साहन मिला। इस काल में जौनपुर में नई स्थापत्य शैली का विस्तार हुआ जिसमें मीनारों का अभाव था। इब्राहिम शाह के समय में ही जौनपुर सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बना और इसलिए इसे शीराज़-ए-हिन्द की उपाधि से नवाजा गया।

वर्तमान में गुमनामी के थपेड़ों को झेलता यह जनपद मुल्क के पिछड़े जिलों में गिना जाता है, 4021 किमी क्षेत्रफल 21 विकासखण्ड 6 तहसीलों में विस्तृत यह जनपद आर्थिक रूप से कृषि पर आधारित है। लगभग 40 लाख की जनसंख्या वाला यह जनपद महिलाओं की जनसंख्या के दृष्टिकोण से विकसित कहा जा सकता है क्योंकि प्रति हजार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या 1020 है। 3 लोकसभा क्षेत्र तथा 10 विधानसभा के प्रतिनिधि इसका जनप्रतिनिधित्व करते हैं। आज एक बार पुनः जौनपुर अपनी खोई विरासत एवं अस्मिता को पाने का प्रयास कर रहा है।

सुल्तान इब्राहिम शाह शर्की के शासनकाल में जौनपुर ने ज्ञान एवं साहित्य के क्षेत्र में युगान्तरकारी प्रगति की।

इसका मुख्य कारण यही है कि जौनपुर का अतीत बड़े-बड़े विद्वानों, इतिहासकारों और सूफियों का केन्द्र रहा है। इब्राहिम शाह शर्की के विद्या प्रेम के कारण यह नगर बहुत जल्दी ही विद्वानों का केन्द्र बन गया था।

उनके दरबार में काज़ी शहाबुद्दीन को विशेष सम्मान प्राप्त था। उन्हें 'मालिकुलउलमा' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। उनके आदर तथा सम्मान की कोई सीमा नहीं थी, इब्राहिम उन्हें अपने दरबार में चांदी की कुर्सी पर बिठाता था। उसके ज्ञान प्रेम की मिसाल पूरे इतिहास में कम ही मिल पाती है। एक बार काज़ी शहाबुद्दीन बहुत बीमार पड़े। इब्राहिम शर्की उनकी खैरियत जानने के लिए उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। इधर-उधर की बातें करने के बाद बादशाह ने पानी से भरा एक प्याला मंगवाया, उसको सात बार काज़ी के सर पर घुमाया और यह दुआ मांगी 'ए खुदा अगर तूने मौत इनके मुकद्दर में लिख दी है तो इसे मेरी तरफ लौटा दे।' इस तरह इब्राहिम शर्की की मौत हो गई। किसी विद्वान की जिंदगी के लिए किसी बादशाह द्वारा अपनी जान कुर्बान कर देने की कोई दूसरी मिसाल इतिहास के पन्नों में शायद ही मिल सके।

इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जौनपुर की धरती के कण-कण में हृदयगति की तरह इतिहास की धड़कनें महसूस की जा सकती है।

शाहजहां के युग में ईरान का एक दार्शनिक जिसका नाम अमकज था। दर्शन के क्षेत्र में पूरी दुनिया उसका लोहा मानती थी। जब वह दिल्ली आया तो शाहजहां उसके ज्ञान से बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपने वज़ीर को बुलाकर पूछा क्या हमारे देश में ऐसा कोई दार्शनिक नहीं जो अमकज का मुकाबला कर सके? वज़ीर ने मुल्ला महमूद जौनपुरी का नाम बताया, बादशाह ने उन्हें लाने का हुक्म बयां कर दिया, जिस पर मुल्ला महमूद ने कहा कि मुझे न ले चलिए वरना दुनिया एक बड़े दार्शनिक से महरूम हो जाएगी। मगर बादशाह का हुक्म था सो जाना पड़ा। मुल्ला और अमकज के बीच वार्ता प्रारंभ हुई और अन्त अमकज की हार के साथ। वतन वापसी के दौरान सदमे से उसकी मौत की सूचना प्राप्त हुई। इस पर मुल्ला ने कहा कि मैंने कहा था कि मुझे वहां न ले चलो वरना दुनिया एक बड़े दार्शनिक से महरूम हो जाएगी। उनके द्वारा लिखित किताब 'शमसे बाजगा' मिस्र में अरबी विश्वविद्यालय में पढ़ाई जाती है।

हुसैन शाह शर्की स्वयं बड़ा विद्वान था उसने काज़ी समाउद्दीन से शिक्षा ग्रहण की। वह संगीत का बड़ा माहिर था। हिन्दी गीतों में ध्रुपद की चार पंक्तियों को कम करके

उसने दो पंक्तियों में सीमित कर दिया जिसे आज 'ख्याल' के नाम से जाना जाता है। यही नहीं उसने 'राग जौनपुरी' भी इज़ाद किया, उसने संगीत में 'तोहफतुलाहिन्द' के नाम से एक किताब भी लिखी जिससे संगीत के क्षेत्र में एक नये अध्याय का सृजन हुआ।

निर्माण के क्षेत्र में भी हुसैन शाह का अपना अलग ही स्थान है स्थापत्य कला के कुछ अनूठे नमूने आज भी विश्व में अद्वितीय हैं 14वीं सदी में बना शाहीपुल अपने में एक अनोखा उदाहरण है जो आज तक बिना किसी पुनर्निर्माण के आवागमन का सूत्र बना हुआ है। जौनपुर ही ऐसा शहर है जहां इस प्रकार के 3 पुल विद्यमान हैं। प्रसिद्ध अटाला मस्जिद, जामा मस्जिद, झंझरी मस्जिद, बड़ी मस्जिद, लाल दरवाजा, ईदगाह, फिरोज मकबरा, चार अंगुल मस्जिद, हिन्दी भवन जैसे कितने उदाहरण हैं। शाही किला नाम से एक किला भी शहर की विरासत की याद दिलाता है जिसके बारे में बात मशहूर है कि कभी इस किले से दिल्ली तक सुरंग मार्ग था परन्तु इसका कोई पूर्ण साक्ष्य नहीं मिलता है।

सात नदियों, ग्यारह झीलों तथा पांच तालों से परिपूर्ण इस जनपद की मांटी बलुई दोमट, उसर बंजर और मटियारी है। जनपद के खेतासराय स्थित 'गूंजरताल' विशालता एवं फैलाव में एशिया महाद्वीप में दूसरा स्थान रखता है। इत्र निर्माण एवं उसकी गुणवत्ता के लिए जौनपुर पहले से प्रसिद्ध रहा है।

जौनपुर नाम पड़ने से पहले इसके कई नाम पड़े यथा यमदगतिपुरम, यवनेन्द्रपुरम, जूनापुर, जूनागढ़, यौवनापुरा, यामोनिया, जबनपुर जमनपुर मध्यप्रदेश, रामपुरा फिर शिराजेहिन्द भी हुआ। हरिशचन्द्र तथा श्री राम का शासन क्षेत्र भी रहा। कुछ कृतियां आज भी आश्चर्यजनक हैं। पत्थर से बने शेर पर हाथी सवार है। शाही किले में अट्ठाइस गुम्बद तथा दो अंगुल मस्जिद आज आकर्षण का विषय हैं।

स्वतंत्रता आंदोलन में भी जनपदवासियों ने अमित योगदान दिया जिससे अंग्रेजों के छक्के छूट गये। माताबदल, संग्राम सिंह, हरपाल माताभीख, गुलाम हुसैन, राज नारायण, अम्बिका, गौरी शंकर, अमर सिंह, सूर्यनारायण, जगन्नाथ, रामसनेही, गोपाल, रामनिहोर, अधार रामानन्द, नजू राम, हुबनारायण कूकदू जैसे व्यक्ति पुनई के साथ धनियामउ

सिंगरामउ, कुवरपुर काण्ड, बधवा काण्ड, सुजानगंज के थाने को पुलिसकर्मियों के साथ फूंक देने जैसे आंदोलनों में सेनानियों का योगदान रहे।

आधुनिक साहित्य में भी विभिन्न कवि, लेखकों तथा शायरों का नाम मिसाल है, बनारसी दास, नूर मोहम्मद, शेखनवी, सीताराम, रामनरेश त्रिपाठी, सुखदेव, कृष्णदत्त, रघुराज, हफीज़, वामिक, यादवेन्द्र कृष्णदत्त, श्रीपाल सिंह 'क्षेम' अजय, प्रदीप, पी.सी. विश्वकर्मा, अनूप, कृष्णकान्त, अनाम जमाली, सैयद इसरद नदीम, अहमद निसार, सिमनानी और हसरत यहीं से ताल्लुक रखते हैं।

अन्य क्षेत्रों में भी जनपद ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराना आरम्भ कर दिया है। विश्व प्रसिद्ध डी.एन.ए. वैज्ञानिक लालजी सिंह, नासा में वैज्ञानिक सरोज मिश्रा, गिनीज़ बुक ऑफ रिकार्ड्स में शामिल पवन श्रीवास्तव या भोजपुरी फिल्मों में तहलका मचाने वाले रवि किशन सभी ने जौनपुर की माटी को महकाया है।

इसके अतिरिक्त जौनपुर के इतिहास की और भी कीमती यादें हैं और ऐसी यादें जो पल भर में हमें हैरत ज़दा कर देने में सक्षम हैं। साहित्य के क्षेत्र में ऐसे सच्चे किरदार भी हैं जिन पर विचार करने से चेतनाएं जीवित हो उठें। सूफियों की बात चल निकले तो खूशबूदार हवाएं चलने लगे। स्थापत्य की बात चले तो आंखें खुली रह जायें। जौनपुर के इतिहास को समझने के लिए विस्तारपूर्वक विवरण की आवश्यकता है, यह लेख तो केवल प्रस्तावना मात्र है।

शिक्षा एक ऐसा साधन है जो किसी संस्कृति के अतीत को वर्तमान से जोड़ता है। हमारे नगर में पूर्वांचल विश्वविद्यालय शिक्षा जगत के विशिष्ट केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुका है। 400 से अधिक महाविद्यालय इससे जुड़कर शिक्षा सेवा में लगे हुए हैं। इस मायने में यह विश्वविद्यालय एशिया का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है जिसमें प्रतिवर्ष 5 लाख छात्रों को शिक्षा दी जाती है। जौनपुर ने अतीत में अगर शेरशाह सूरी जैसा छात्र पैदा किया है तो आज भी वैसे ही छात्रों को बनाने में लगा हुआ है। अपनी ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को समेटे यह नगर लगातार मुल्क के साथ विकास के पथ पर कदम से कदम मिलाकर चलने का प्रयास कर रहा है।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

केवल सीमित वितरण के लिए